# पञ्च-भजन
# तथा
# भाव-त्रय

प्रकाशक

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

अलोपीबाग, इलाहाबाद

# पञ्च - मकार

तथा

# भाव - त्रय

लेखक

'कुल-सङ्ग-शेखर' पण्डित देवीप्रसाद घिल्डियाल

एम० ए०, एल-एल० बी०

सम्पादक

श्री ऋतशील शर्मा, एम० ए०

प्रकाशक

पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

प्रयाग-६

प्रकाशक
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
अलोपीबाग मार्ग, इलाहाबाद—२११००६

चतुर्थ संस्करण
गुरु पूर्णिमा, २०५३ वि०
३० जुलाई, १९९६
मूल्य २०-०० रु०

मुद्रक
परा वाणी प्रेस
अलोपीबाग मार्ग
इलाहाबाद—२११००६

# भूमिका

'धर्म' शब्द भारतीय भारती का स्वयं-पूर्ण शब्द है। उसका पर्याय-वाची शब्द संसार भर की किसी भाषा में नहीं है। अंग्रेजी के 'रिलिजन' अथवा फारसी के 'मजहब' शब्द हमारे 'धर्म' के हजारवें हिस्से का भी अर्थ नहीं रखते। अस्तु।

'धर्म' की परिभाषाएँ बहुत सी हैं, परन्तु प्रधान-तया दो परिभाषाएँ महत्त्व-पूर्ण हैं और कदाचित् ये ही दो परिभाषाएँ ऐसी हैं, जो पूर्ण कही जा सकती हैं। एक है **'स्व-लक्षण-धारणाद् धर्मः'**—दूसरी है **'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः'**। यदि विचार-शील विद्वान् किञ्चिन्मात्र भी सोचने का कष्ट करेंगे, तो सिद्ध हो जायगा कि दोनों परिभाषाओं का एक ही तात्पर्य है।

एक परिभाषा कहती है—"किसी व्यक्ति, जाति, वस्तु, जीव का 'धर्म' वह है, जिसके द्वारा वह अपने लक्षण (पहचान, परिचय) को धारण करता है अर्थात् पहचाना जाता है।" यहाँ पर 'धर्म' का अर्थ आकृति - मात्र समझने की भूल हो सकती है क्योंकि आकृति तो देवता, राक्षस, मनुष्य तथा कुछ पशुओं की एक ही सी है, परन्तु उनके बीच का अन्तर उनके विशिष्ट गुणों के देखने से ही ज्ञात होता है। अतएव जिस कार्य-सरणि द्वारा चलने से आपका परिचय मिले, वही आपका 'धर्म' हुआ। अपने-अपने 'धर्म' पर चलने से ही 'अभ्युदय निःश्रेयस' सिद्ध होना सम्भव है। माता ने अपनी जिस सन्तान को जो काम सौंपा है, वह उससे वही काम चाहती है। उसके न करने पर मां अवश्य पीटेगी। माता ने स्वयं अपने श्री-मुख से कहा है (देखिए श्रीमद्-भगवद्-गीता)—

**श्रेयान् स्व-धर्मो विगुणः, पर-धर्मात् स्वनुष्ठितात्।**
**स्व-धर्मे निधनं श्रेयः, पर-धर्मो भयावहः॥**

प्रस्तुत पुस्तक में यही दिखाने का प्रयास किया गया है कि कौल-धर्म ही एक ऐसा 'धर्म' है, जिसका अनुसरण करने से मनुष्य स्व-लक्षण धारण करता है और अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति करता है।

अन्य वादों में उपासना का आडम्बर और विधि-निषेध का ऐसा जाल फैला हुआ है कि यदि आप भगवच्चिन्तन करना चाहते हैं, तो आपको संसार छोड़ना पड़ेगा। आप संसारी रहकर इष्ट-चिन्तन कर ही नहीं सकते। उनके विशिष्ट प्रकार के विधान (इसको छोड़ो, उसको रक्खो) साधक के हृदय की भेद-भावना को सदा जागृत रखते हैं और कौल-मार्ग में 'दिक्काल-नियमो नास्ति, तिथ्यादि-नियमो न च', 'सर्वदा पूजयेद् देवीमस्नातः कृत-भोजनः'—जब मन करे, जहाँ मन करे, वहीं मन्त्र का जप करो; नहाए बिना, भोजन इत्यादि करके जगदम्बा का पूजन करो। खटराग यदि है, तो वह केवल मादक वस्तुओं के सेवन के विषय में है—

मत्स्य-मांस - सुरादीनां, मादकानां निषेवणम्।
याग-कालं बिनाऽन्यत्र, दूषणं कथितं प्रिये!॥

याग-काल के अतिरिक्त मादक वस्तुओं का सेवन दोष बताया गया है और इस याग का खटराग स्पष्ट है कि कट्टर वाम-मार्गी का मादक वस्तुओं का सेवन तभी सम्भव है, जब उसके पास पुष्कल धन तथा समय हो। वामी के लिए अग्राह्य कुछ भी नहीं, सभी कुछ ग्राह्य है। इसकी विवेचना इस पुस्तक में पाठकों को पूरी प्रकार मिलेगी।

जो साधारण मद्यप तथा आचार-भ्रष्ट लोग हैं और पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध हैं, उनको कदाचित् यह पुस्तक मद्य-पानादिक की वकालत जँचे (यद्यपि मैंने इस विचार से इस पुस्तक को नहीं लिखा)। उनसे मेरा अनुरोध है कि इस पुस्तक में बताए हुए विधान के अनुसार इनका प्रयोग करें।

टिहरी —देवीप्रसाद घिल्डियाल

# विषय-प्रवेश

**यः शान्तः परमावयः परः - शिवः कङ्कालः कालान्तको ।**
**ध्यानातीतमनादि - नित्य - निचयः सङ्कल्प - सङ्कोचकः ।।**
**आभासान्तर - ह्रासकः सम - रसः सर्वात्मनां बोधकः ।**
**सोऽयं सर्व - मयो ददातु जगतां विद्यादि - सिद्धयष्टकम् ।।**

शक्ति-साधना तीन प्रकार के आचारों से की जाती है—१. दक्षिणाचार, २. वामाचार तथा ३. कुलाचार। 'रुद्र-यामल' में इनके लक्षण इस प्रकार दिए गए हैं। यथा—

(१) 'दक्षिणाचार' में प्रातः-स्नान, दिन में पूजन, हविष्यान्न-भोजन, पूजन में ऊर्णासन तथा रुद्राक्ष-माला के प्रयोग, श्रौत-स्मार्त धर्म में दृढ़ रहकर साधना करने का विधान है। पञ्च-मकार से पूजन करना सर्वथा निषिद्ध माना गया है और पहले तो ब्रह्मचर्य से साधक को रहना चाहिए, यदि ब्रह्मचर्य से न रह सके, तो स्व-स्त्री में रत रहे।[1]

(२) 'वामाचार' में स्नान-शौच का कोई बन्धन नहीं है।[2] साधक सर्वदा सर्व-काल में जप-ध्यानादिक कर सकता है, रात्रि-पूजन विशेष

---

[1] प्रभाते स्नान-सन्ध्यादि, मध्याह्ने जप ईश्वरि !
ऊर्णमासनमात्मार्थं, भक्ष्यं पायस - शर्करम् ।।
माला रुद्राक्ष-सम्भूता, पात्रं पाषाण-सम्भवम् ।
भोगः स्वकीय - कान्ताभिर्दक्षिणाचार इत्ययम् ।।
द्रव्येण मधुना देवि ! सिद्धि - हानि-करो मतः ।

[2] 'वामाचारं' प्रवक्ष्यामि, श्रीदुर्गा - साधनं परम् ।
यं विधाय कलौ शीघ्रं, मान्त्रिकः सिद्धि-भाग् भवेत् ।।
माला नृ-दन्त-सम्भूता, पात्रं तु नर-मुण्डकम् ।
आसनं सिंह-चर्मादि, कङ्कणं स्त्री-कचोद्भवम् ।।
द्रव्यमासव - तत्त्वाद्यं, भक्ष्यं मांसादिकं प्रिये !
चर्वणं बाल-मत्स्यादि - मुद्रा वीणा-रवः कथा ।।
मैथुनं पर - कान्ताभिः, सर्व - वर्ण - समानता ।
'वामाचार' इति प्रोक्तः, सर्व-सिद्धि-प्रदः शिवे ! ।।

तया प्रशस्त है। इस आचार में साधक को वर्णाश्रम-धर्म के बन्धन में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। वामाचारी को सर्व-वर्णों में समानत्व समझना चाहिए। मद्य-मांसादिक से देव-पूजन करना विहित है। साधना में स्व-कान्ता, पर-कान्ता के बीच कोई भेद नहीं माना जाता।

(३) 'कुलाचार' राज-योग है और इसके पञ्च-मकार अन्तर्याग से सम्बन्धित हैं, जिसका आगे विवेचन किया जायगा।[3]

इन्हीं आचार-त्रय को भाव-त्रय कहते हैं। यथा-क्रमानुसार—(१) पशु-भाव, (२) वीर-भाव, (३) दिव्य-भाव। 'काली-विलास तन्त्र' का कथन है—"हे देवि! भाव-त्रय को सुनो। ये क्रमानुसार दिव्य, वीर तथा पशु हैं। दिव्य देव-वत् है, वीर-भाव में औद्धत्य है और पशु-भाव सदा शुद्ध तथा शुचि-वत् है।[4]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि 'काली-विलास तन्त्र' पशु-भाव को सर्वोत्तम मानता है और वीर-भाव को सबसे निकृष्ट। उसमें "उद्धत-मानसः" प्रयोग से यह स्पष्ट है। अन्य तन्त्र 'पशु-भाव' को निकृष्ट मानते हैं।

'रुद्रयामल' का वचन है—"पहले 'पशु-भाव' करके पश्चात् अवश्य-मेव 'वीर-भाव' को, जो महा-भाव है तथा सब भावों में उत्तमोत्तम है, करे और उसके पश्चात् समस्त श्रेयों के आश्रय 'दिव्य-भाव' को करे, जो महा-फलद है।"

---

[3] 'कुलाचारं' प्रवक्ष्यामि, सेव्यं योगिभिरुत्तमैः।
कुल-स्त्रियं (षट्-चक्रों की अधिष्ठात्री देवियाँ)
कुल - गुरुं (आज्ञा-चक्र में हंस-पीठस्थ गुरु)
कुल - देवीं ( कुल - कुण्डलिनी ) महेश्वरि !॥
नित्यं यत् पूजयेद् विश्वं स 'कुलाचार' उच्यते॥
रुद्र-यामले

[4] शृणु भाव-त्रयं देवि ! दिव्य-वीर-पशु-क्रमात्।
दिव्यश्च देव-वत् प्रायो वीरश्चोद्धत - मानसः॥
पशु-भावः सदा देवि ! शुद्धश्च शुचि-वत् सदा।
काली-विलास, ६-४/१०

'भाव-चूड़ामणि' ने तो 'पशु-भाव' को सर्व-निन्दित कहा है—"श्रीदेवी अपने मुखारविन्द से कहती हैं कि हे देव ! भाव तीन प्रकार के हैं— १. दिव्य, २. वीर तथा ३. पशु। आद्य-भाव अर्थात् 'दिव्य-भाव', हे महादेव ! सर्व-समृद्धि देनेवाला है, दूसरा 'वीर-भाव' मध्यम और तीसरा 'पशु-भाव' सर्व-निन्दित है।"[५]

अस्तु, इन सब मत-भेदों को अलग रखते हुए भी सर्व-तन्त्रों को देखने से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि इन तीनों में से एक-न-एक भाव से अवश्यमेव पूजा या साधना करनी ही पड़ेगी, चाहे आप किसी भी देवता की पूजा करें। अन्य तन्त्र शाक्त-तन्त्र के बराबर विज्ञान-मय न होने के कारण इन भाव-त्रय को न समझ सके। अतएव उनमें भाव-त्रय की शाक्त-तन्त्र - जैसी वैज्ञानिक व्याख्या न होना स्वाभाविक है।

'पञ्च-मकार' के नाम प्रायः सभी जानते हैं। इनके नाम हैं— १. मद्य, २. मांस, ३. मीन, ४. मुद्रा तथा ५. मैथुन।[६] वास्तव में देखा जाय, तो ये पाँच न होकर यथार्थ में चार ही हैं। 'मांस' और 'मीन' को आमिष-कोटि ही में रखना व्यावहारिक-सा हो गया है। 'मद्य' के अन्दर सभी मादक वस्तुएँ, 'मांस-मीन' के अन्दर जल, स्थल तथा नभ-चारी सर्व प्रकार के जीवों का भोज्य आमिष, 'मुद्रा' के अन्दर सर्व प्रकार के चर्व्वणीय अन्न (विशेषतया तले हुए) और 'मैथुन' में स्त्री-पुरुष का सर्व प्रकार का रति-सम्भोग समझना चाहिए।

शाक्त-तन्त्रानुसार जिस किसी भी भाव से आप पूजन-साधन करें, 'पञ्च-मकार' प्रत्येक भाव में पूजा की सामग्री है। केवल भाव-विशेष में ये ही "पञ्च-मकार" अर्थ तथा भाव-विशेष रखते हैं। 'पञ्च-मकार' को तन्त्र-शास्त्र में 'पञ्च-तत्त्व' भी कहा गया है।

◆ ◆

---

[५] भावस्तु त्रिविधो देव ! दिव्य-वीर-पशु-क्रमात्।
आद्य - भावो महादेव ! श्रेयान् सर्व-समृद्धिदः ॥
द्वितीयो मध्यमश्चैव, तृतीयस्सर्व-निन्दितः। (भाव-चूड़ामणि)

[६] मद्यं मांसं तथा मीनं, मुद्रा मैथुनमेव च।
मकार-पञ्चकं सेव्यं, शिव - शक्ति - समागमे ॥ (मेरु-तन्त्रे)

# अ-नु-क्र-म


| | | |
|---|---|---|
| १ | भूमिका | (तीन) |
| २ | विषय-प्रवेश | (पाँच) |
| ३ | पशु-भाव | १ |
| ४ | वीर-भाव | १२ |
| ५ | दिव्य-भाव | ६९ |
| ६ | परिचय | ८६ |


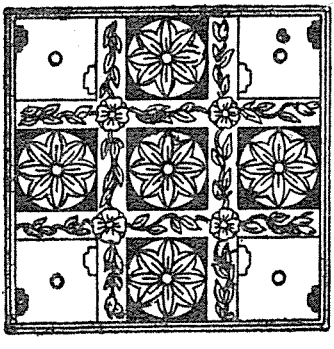

# पशु - भाव

तन्त्र-शास्त्र ने साधना की सबसे पहली सीढ़ी 'पशु-भाव' को कहा है। कहना न होगा, 'पशु-भाव' ही आदि-भाव है। मनुष्य पशुओं में सर्व-श्रेष्ठ है। जब तक निरन्तर साधना तथा अभ्यास से उसे ज्ञान न होगा, तब तक उसमें पशुत्व बना रहेगा। मनुष्य सोचने-विचारने-वाला पशु है। इसलिए उसको पाश्चात्य आचार्यों ने 'राशनल ऐनी-मल' अर्थात् तर्क-वितर्क करके अपना मत स्थिर करनेवाला पशु कहा है। जिसकी बुद्धि जितनी होगी, उसका ज्ञान उतना ही होगा। एक पाषाण-मूर्ति-विशेष को ही देवता समझनेवाला एकदम ब्रह्म को कैसे समझ सकता है? जिस व्यक्ति के हृदय में भेद-बुद्धि है; अपनी रुचि के अनुसार जो किसी वस्तु को भला और किसी को बुरा सम-झता है; उसमें पशुत्व है और उसके लिए 'पशु-भाव' से ही साधन-पूजन करना श्रेयस्कर हो सकता है, वीर तथा दिव्य-भाव से नहीं। जो व्यक्ति कभी गधे पर भी न चढ़ा हो, उसको अरबी घोड़े पर चढ़ाना यदि उसके लिए प्राण-घातक न हो, तो हाथ-पाँव तोड़नेवाला अवश्य ही होगा।

साधारण-तया मनुष्य-जीवन की भी प्रधान तीन ही अवस्थाएँ देखने में आती हैं—बाल्य, यौवन तथा जरा। बाल्यावस्था में मनुष्य प्रायः सभी बातों से अनभिज्ञ रहता है। उसको उस समय सभी सांसारिक कार्यों की अ, आ, इ, ई, सीखनी पड़ती है। बाल्यावस्था पूर्ण होने पर उसका शारीरिक विकाश पूर्णता को प्राप्त होता है और वह युवावस्था के साथ-साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करता है। इसी बात को विचार में रखते हुए मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक नींव को दृढ़ रखने के लिए हमारे धर्म-शास्त्रों ने बाल्या-वस्था में ब्रह्म-चर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन करने का आदेश किया है। महा-कवि कालीदास ने अपने 'रघु-वंश' महा-काव्य में इन अवस्था-त्रय तथा तत्सम्बन्धी कर्तव्य-त्रय का, रघु-वंशियों की जीवन-चर्या के विषय में, बड़ा उत्तम दिग्दर्शन कराया है। रघु-वंशी

शैशव में विद्याभ्यास, यौवन में विषय-भोग तथा वार्धक्य में मुनि-वृत्ति से रहकर योग से शरीर-त्याग करते थे।[१]

यही चरम प्राकृतिक नियम है। यही नियम साधना के लिए भी अनुभव से प्रशस्त है। इसी नियम को ध्यान में रखकर महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाङ्ग योग का उपदेश दिया है। यम-नियमादिक से आत्म-शुद्धि किए बिना एकदम असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। यह नवधा भक्ति का भी सिद्धान्त है। स्मरण, कीर्तन, पूजन का अभ्यास किए बिना साधक में आत्म-समर्पण का महा-भाव नहीं आ सकता। प्रत्येक साधना का आरम्भ 'पशु-भाव' से किया जाना आवश्यक है। जब तक आपमें 'पशु-भाव' है, आप पशु-भावातिरिक्त भाव से पूजन ही नहीं कर सकते। अभ्यास करते रहने से एक दिन आपका 'पशु-भाव' स्वयं ही छूट जायगा।

परन्तु यह जाना कैसे जाय कि अभी साधक का पशुत्व नष्ट नहीं हुआ? शास्त्र ने पशुत्व के लक्षण बताए हैं। जिस दिन साधक देखे कि उसमें उन लक्षणों में से एक भी लक्षण नहीं रहा, उसी दिन उसका पशुत्व नष्ट हुआ समझिए। ध्यान रहे, पशुत्व जीव का गुण नहीं है। जीव तो स्वयं परमात्मा ही है। जैसे सागर और उसकी लहर है, वैसे ही शिव और जीव हैं। जीव पशुत्व के पाश से आबद्ध है। इसी पशु-पाश को साधना से काटना है, परन्तु जब तक वह पशु-पाश से बँधा हुआ है, उसे पशु ही की तरह आचरण करना पड़ेगा। जेल के कैदी को जेल के नियमों के अनुसार ही चलने में श्रेय है। इस 'पाश' को शास्त्र ने आठ प्रकार का बताया है। अतः यह एक 'पाश' नहीं, बल्कि 'अष्ट-पाश' कहे जाएँगे। यथा— १. घृणा, २. शङ्का, ३. भय, ४. लज्जा, ५. जुगुप्सा, ६. कुल, ७. शील और ८. जाति[२]। अब विचारणीय है कि ये अष्ट-पाश किस प्रकार मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के बाधक हैं और क्यों त्याज्य हैं?

---

[१] शैशवेभ्यस्तु विद्यानां, यौवने विषयैषिणां।
वार्धक्ये मुनि-वृत्त्यानां, योगेनान्ते तनु-त्यजाम्॥ रघ० १।७

[२] घृणा शङ्का भयं लज्जा, जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥
पाश-बद्धः स्मृतो जीवः, पाश-मुक्तः सदा-शिवः॥ (कुलार्णव)

१—'घृणा'

'घृणा' क्या है ? साधक की पसन्द और नापसन्द को बतानेवाली प्रवृत्ति ही 'घृणा' है। एक वस्तु किसी व्यक्ति को नापसन्द है। वह उस वस्तु से 'घृणा' करता है परन्तु दूसरे व्यक्ति को वह पसन्द है, वह उससे 'घृणा' नहीं करता। व्यक्ति-विशेष के शरीर तथा इन्द्रियों को वस्तु-विशेष रुचिकर न होने से उस व्यक्ति का शरीर-विशेष उसको पसन्द नहीं करता, इस कारण उस शरीर-विशेष के मन में उस वस्तु के प्रति 'घृणा' का भाव उत्पन्न होता है और होते-होते यह 'घृणा' का भाव इतना प्रबल हो उठता है कि उस वस्तु को प्रिय माननेवाले से भी उस व्यक्ति को 'घृणा' हो जाती है।

हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद की कथा को हिन्दू मात्र जानते हैं। हिरण्यकशिपु को हरि-नाम से 'घृणा' हो गई और होते-होते इस 'घृणा' के पाश से वह इतना जकड़ गया कि अपने एक-मात्र पुत्र—प्रह्लाद तक के प्राणों का ग्राहक हो गया। 'घृणा' कितना प्रबल पाश है ! उससे जकड़ जाने पर मनुष्य अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु का भी वैरी हो जाता है। जिस दिन मनुष्य के हृदय से 'घृणा' का भाव दूर हो जाएगा, उसके समीप संसार की सब पार्थिव वस्तुएँ पञ्च-भूतों के विकार-मात्र दीखेंगे; शब्दों में केवल सांसारिक व्यवहार मात्र को समझने के अतिरिक्त अन्य कोई चमत्कार न रह जाएगा क्योंकि उसे अच्छी प्रकार ज्ञात हो जाएगा कि ये शब्द केवल पञ्चाशत् वर्ण-मातृकाओं के ही हेर-फेर से बने हैं—जैसे 'राम' और 'मरा' शब्द हैं। 'म' और 'रा' इन दोनों वर्णों को उलट-पलट कर पढ़ने से शब्दार्थ में कितना अन्तर हो गया ! यह भी हिन्दू-मात्र जानते हैं कि 'मरा' शब्द का जप करने से वाल्मीकि ऋषि को श्रीराम की ऐसी प्राप्ति हुई, जैसी किसी को भी न हुई होगी। तुलसी जी ने इसी को इङ्गित करते हुए लिखा है—

**'उलटा नाम जपत जग जाना,**
**बाल्मीकि भये ब्रह्म-समाना।'**

यह 'घृणा' हमारे देहाभिमान को उत्तेजना देती है। हमारी इस प्रवृत्ति पर जोर देती है कि जिस वस्तु को हम बुरा मानें, उसे सारी

दुनिया छोड़ दे। इस 'घृणा' का परित्याग करने से हमारा देहाभिमान दूर होगा और हमारा पशुत्व-नाश होगा। कारण, देहाभिमान का पोषण पशुत्व का प्रधान लक्षण है। इसीलिए शास्त्र कहता है कि—"जब तक देहाभिमान है, जब तक ममता है, जब तक गुरु-कृपा न हुई (अर्थात् जब तक गुरु-कृपा से यह देहाभिमान नष्ट नहीं हुआ), तब तक तत्त्व-कथा कैसे सम्भव है?"

२—'शङ्का'

दूसरा पाश 'शङ्का' है। साधक के हृदय में अन्य के प्रति सन्देह की भावना, दीर्घ-सूत्रता इत्यादि भावनाएँ—सब 'शङ्का' के अन्तर्गत आती हैं। सांसारिक माया-मोह में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी भौतिक उन्नति के लिए नाना प्रकार के छल-प्रपञ्च करता है, झूठ बोलता है, कपट-व्यवहार करता है। इसीलिए वह दूसरे को भी वैसा ही समझने के कारण उससे शङ्कित रहता है। शकुन-शास्त्र, फलित-ज्योतिष इत्यादि विद्याएँ मानव की 'शङ्का' के मूर्त-रूप हैं। उसकी लोलुप प्रवृत्ति उसको सर्वदा शङ्कित बनाए रखती है। वह सोचता है—अमुक मुहूर्त में धन कमाने अथवा मुकदमा करने जाऊँगा, तो मुझे लाभ होगा। उसको अपने काम की चिन्ता नहीं रहती, बल्कि लाभ की चिन्ता रहती है। यदि वह अपने कार्यों को कर्तव्य समझ कर करे और हानि-लाभ की चिन्ता के फेर में न पड़े, तो उसे शङ्कित होने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

३—'भय'

तीसरा पाश 'भय' है। साधक को अपने पार्थिव शरीर तथा इससे सम्पृक्त पार्थिव वस्तुओं से बड़ा प्रेम है। इसलिए उसको इनके नष्ट होने का सर्वदा 'भय' बना रहता है। आत्मा के नाश का उसको कोई 'भय' नहीं है; वह आत्मा को जानता ही नहीं। वह भौतिकता के दलदल में डूबा हुआ है। उसको आत्मा के विषय में जानने की फुरसत ही नहीं, परन्तु इतना वह जानता है कि ये पार्थिव पदार्थ सब नश्वर हैं और न जाने कब नष्ट हो जायँ। उसने लोगों को मरते देखा है, सेठों का दिवाला पिटते देखा है, राज्यों को नष्ट होते हुए देखा है। इसी कारण वह भयभीत रहता है कि कहीं मेरी भी ये

पार्थिव वस्तुएँ नष्ट न हो जाँय। अपने पशुत्व के कारण वह यह नहीं समझता कि जब इन वस्तुओं को एक दिन नष्ट होना ही है, तो मैं इन पर ममत्व क्यों रक्खूँ ? इसी कारण 'भय' पशु-पाश है।

४—'लज्जा'

चौथा पाश 'लज्जा' है। इसका बहुत सुन्दर अर्थ पाश्चात्य दार्शनिकों ने 'इन्फीरियारिटी काम्प्लेक्स' (लघुता का बोध) किया है। 'लज्जा' वह भावना है, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य अपने को दूसरे से छोटा समझता है। इस भावना के मारे मनुष्य इसी विचार से दबा रहता है कि कहीं मैं ऐसा काम न कर बैठूँ या ऐसा काम करते न देखा जाऊँ, जिससे लोग मुझे छोटा समझें।

एक सज्जन मुझे ऐसे मिले, जो स्वयं ग्रेजुएट थे, परन्तु उनके पिता अंग्रेजी नहीं जानते थे, अत्यन्त साधारण थे। फटी-मैली मिरजई गाढ़े की पहनते थे और लँगोटी लगाते थे। एक दिन उन ग्रेजुएट साहब के एक डिप्टी कलेक्टर मित्र की उपस्थिति में उनके पिता मिरजई-लँगोटी में आ गए और बड़ी बेतकल्लुफी से एक खाली कुर्सी पर बैठ गए। डिप्टी साहब और ग्रेजुएट साहब ने नाक-भौं सिकोड़ी। डिप्टी साहब ने अंग्रेजी में उनसे पूछा कि 'यह कौन हैं ?' ग्रेजुएट साहब ने उत्तर दिया कि 'मेरी जान-पहचान का आदमी है' और उस पर यह भी और जड़ दिया कि 'ये देहाती बड़े बदतमीज होते हैं !' ग्रेजुएट साहब की यह 'लज्जा' ही तो थी, जिसने बाप को बाप न कहने दिया। उनके हृदय में भावना ही यह थी कि डिप्टी साहब सोचेंगे कि यह एक गँवार का पुत्र है और इससे उनको लज्जित होना पड़ेगा !

मनुष्य के हृदय में मानापमान की भावना 'लज्जा' से ही जागृत रहती है। मनुष्य इस मानापमान के फेर में पड़कर यह नहीं समझता कि यह मानापमान केवल उसके पार्थिव शरीर का ही तो है। आत्मा तो मानापमान से परे है। नंगे रहने पर शरम क्यों ? आप अपना पार्थिव शरीर दूसरे को नहीं दिखाना चाहते, बस, इसी कारण आपको नंगे रहने में 'लज्जा' लगती है। 'लज्जा' आपके देहाभिमान की पोषक होने से पशु-पाश है।

५—'जुगुप्सा'

पाँचवाँ पाश 'जुगुप्सा' है। पर-निन्दा को 'जुगुप्सा' कहते हैं। मनुष्य दूसरे के दोष देखता है, फिर लोगों से उसके दोष कहता है। पर-दोष-दर्शन और पर-निन्दा में मनुष्य अपने दोष का मनन नहीं कर पाता, जिससे उसके अपने निज के दोष बढ़ते चले जाते हैं। 'जुगुप्सा' के कारण उसकी प्रवृत्ति झूठ बोलने की हो जाती है। स्पष्ट-वादिता का उसमें नाश हो जाता है और उसमें का-पुरुषत्व आ जाता है, जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यन्त हानि-कारक है।

६—'कुल'

छठवाँ पाश 'कुल' है। मनुष्य का यह विचार कि वह अमुक 'कुल' या वंश का है, सर्वदा उसके हृदय में उच्चता या क्षुद्रता का भाव पैदा करता रहता है। साधारणतया लोगों में परिचय देने के लिए कुल का बखान किया जाता है। सभी लोगों में यह आकांक्षा पाई जाती है कि वे अपने को किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के 'कुल' का सिद्ध कर सकें। जो व्यक्ति अपने को किसी मान्य तथा प्रख्यात 'कुल' का सिद्ध कर सकता है, वह समाज में आदर पाता है और जो ऐसा नहीं कर सकता, वह निरादृत होता है।

यथार्थ में देखा जाय, तो कुलीनत्व-अकुलीनत्व का विचार अत्यन्त ही मूर्खता-पूर्ण है। सभी धर्म इस बात को निर्विवाद मानते हैं कि आदि परमेश्वर ने एक पुरुष और एक स्त्री बनाई और उनकी सन्तान यह सारी मानव सृष्टि है। मुसलमान, ईसाई और यहूदियों के अनुसार संसार की सारी मनुष्य जाति आदम की सन्तान है और हिन्दुओं के अनुसार कश्यप की। अब विचारणीय है कि जब तमाम जाति एक ही व्यक्ति से उत्पन्न हुई, चाहे उसका नाम आदम कहिए, चाहे कश्यप, तो फिर कुलीनत्व-अकुलीनत्व का झगड़ा कैसा ? मनुष्य मात्र कश्यप (या आदम) 'कुल' के ही तो हुए। इसलिए यह 'कुल' का पाश केवल हमारे देहाभिमान का ही पोषक होने से पशु-पाश है। स्वयं जीव, जिसकी यह देह है, कुलीनत्व-अकुलीनत्व से परे है।

७—'शील'

सातवाँ पाश 'शील' अर्थात् शिष्टाचार है। सेवा, प्रणाम, उठने बैठने, अन्य लोगों के साथ व्यवहार आदि के नियम—सब 'शील' के अन्तर्गत हैं। यह आपकी आत्मिक स्वतन्त्रता का तो कहना ही क्या, शारीरिक स्वतन्त्रता का भी नाश करनेवाला है।

कल्पना कीजिए, आपकी इच्छा शयन करने की है और आप सोने की तैयारी में हैं, परन्तु उसी समय आपके समाज के कोई प्रतिष्ठित सज्जन आपके पास आए और गप-शप करने लगे। आपको नींद आ रही है। हृदय से आप चाहते हैं कि ये महाशय चले जाते, तो मैं सोता, परन्तु वे दो घण्टे आपके पास डटे रहे और आपकी नींद खराब कर दी! यह आपका 'शील' ही का बन्धन तो था, जिसने आपके ऊपर इतना अत्याचार करवाया। यदि आप 'शील' के बन्धन में बँधे न होते, तो आप उनसे कह देते कि 'महाशय, आप इस समय पधारिए, मैं सोने जा रहा हूँ।'

'शील' का यही बन्धन साधक को खाने, पहनने, चलने-फिरने, बोलने इत्यादि सभी कार्यों में अपनी रुचि से विपरीत चलने को बाध्य करता है और उसके हृदय में यही चिन्ता बनी रहती है कि मेरा कोई कार्य शिष्टाचार के विरुद्ध न हो, जिसमें लोग मेरी निन्दा करें। 'शील' का बन्धन काट देने से साधक विचार तथा कर्म में स्वतन्त्र हो जाता है और उसे यह चिन्ता नहीं सताती कि कोई उसकी निन्दा कर रहा है या स्तुति।

८—"जाति"

आठवाँ पाश 'जाति' है। मनुष्य अपने जात्यभिमान के फेर में पड़कर अन्य मनुष्यों को हीन अथवा उच्च समझता है और इसी कारण समाज में व्यर्थ के झगड़े फैलाता है। इस 'जाति'-भेद के कारण ही समाज में नाना प्रकार की फ़िरकेबन्दियाँ फैल गई हैं, जिनके कारण कई बार लोगों के बीच सिर-फुड़ौव्वल तक हो बैठती है। 'जाति'-भेद साधक की सम-दर्शिता का नाश करनेवाला है और उसके अभिमान का पोषक होने के कारण पशु-पाश है।

हिन्दू धर्म-शास्त्र इस जाति-कृत भेद-भाव को अत्यन्त गर्हित बतलाते हैं। 'भविष्य-पुराण' का कथन है—"न तो ब्राह्मण चन्द्रमा

की किरणों के समान शुक्ल-वर्ण हैं, न क्षत्रिय ढाक के फूल के समान लाल, न वैश्य हरताल के समान हरे और न शूद्र कोयले के समान काले हैं। चलने-फिरने से, शरीर की गठन से, रङ्ग और केश तथा शोणित-तादि धातुओं से सब एक ही प्रकार के दीखते हैं, तो चार भेद कैसे माने जायँ? गर्भ-वास, आकृति, रङ्ग-रूप, काम-काज, इन्द्रियों के व्यापार, जीवन-मरण, रोग, शोक, पुरुषार्थ, बल तथा औषधि-प्रयोग—इन सब बातों में उक्त चार जातियों में जाति-कृत भेद तो कुछ भी देखने में नहीं आता। सभी तो उसी एक परम पिता परमेश्वर की सन्तान हैं। यह बात शास्त्रों के प्रमाणों, दृष्टातों तथा तर्क-वितर्क से सिद्ध है। फिर जाति-कृत भेद कैसा? जब चारों वर्ण एक ही पिता की सन्तति हैं, तो फिर यह सिद्ध है कि एक पिता के पुत्रों की एक ही जाति हो सकती है, भिन्न-भिन्न जातियाँ नहीं।"[1]

उक्त अष्ट-पाश 'पशु-पाश' कहलाते हैं। जीव इन पाशों से आबद्ध होने के कारण पार्थिव भोगों को चरम सुख समझता है और संसार के आवर्त में घूमता रहता है। इस जीव को शिवत्व प्राप्त कराने हेतु साधना करके इन पाशों को काटना होता है। पाश-मुक्त होने से जीव स्वयं ईश्वर हो जाता है।

साधक की जैसी मनोवृत्ति रहती है, उसी प्रकार की साधना करने से उसका श्रेय सम्भव है। जिस पर उक्त अष्ट-पाशों का प्रभाव है,

[1] न ब्राह्मणाश्चन्द्र-मरीचि-शुभ्रा, न क्षत्रिया किंशुक-पुष्प-वर्णाः।
न चेह वैश्या हरिताल-तुल्याः, शूद्रा न चाङ्गार-समान-वर्णाः॥
पाद-प्रचारैस्तनु-वर्ण-केशैः, सुखेन दुःखेन च शोणितेन।
त्वङ्-मांस-केशास्थि-रसैः समानाः, चतुः-प्रभेदा हि कथं भवन्ति॥
वर्ण-प्रमाणाकृति-गर्भ-वास-वाग्-बुद्धि - कर्मेन्द्रिय - जीवितेषु।
बल - व्रि - वर्गामय - भेषजेषु, न विद्यते जाति-कृतो विशेषः॥
स एक एवात्र पिता प्रजानां, कथं पुनर्जाति-कृतः प्रभेदः।
प्रमाण-दृष्टान्त - नय - प्रवादैः, परीक्ष्यमाणो विघटत्वमेति॥
चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च, तेषां सुतानां खलु जातिरेकः।
एवं प्रजानां हि पितैक एव, पित्रैक-भावान्न च जाति-भेदः॥
—भविष्य-पुराण, अ० ४२/श्लोक ४१ से ४५

उसके लिए सर्वदा, सर्व-काल और सर्वावस्था में साधन कर सकना असम्भव है। उसका मन सांसारिक पार्थिव प्रवृत्तियों के वश में होने से अध्यात्म की ओर नहीं जा सकता। अतएव जब तक चित्त निर्मल नहीं हुआ, मनोवृत्तियों पर विजय प्राप्त न हो सकी, तब तक साधना 'पशु-भाव' से करनी होगी। नित्य-स्नान, सन्ध्या-वन्दन, आचार-शुद्धि, आहार-शुद्धि—सब कुछ करना होगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि यम-नियमादिक अष्टाङ्ग-योग से पूर्ण रीत्या मन तथा काया की शुद्धि करनी होगी। ब्रह्मचर्य का पालन नितान्त आवश्यक है। अथवा गृहस्थ के लिए अपनी स्त्री ही में रत रहना ब्रह्मचर्य-पालन ही के समान समझा गया है। 'पञ्च-मकार' से पूजन करना एकदम निषिद्ध है। यदि कहीं आवश्यकता पड़ जाय, तो उनके प्रतिनिधि प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे मांस के बदले लशुन-पलाण्डु प्रभृति, मद्य के बदले छाछ में गुड़ मिलाकर उसका प्रयोग इत्यादि। देखिए 'कुलार्णव', पञ्चमोल्लास। 'मेरु-तन्त्र', 'महा-काल-संहिता' आदि तन्त्र भी इस विषय में देखने योग्य हैं।

'पशु' के लिए मद्य-मांसादिक अपने प्रकृत रूप में एकदम वर्ज्य हैं। कुलार्णव तन्त्र वाम-मार्ग के प्रधान ग्रन्थों में है, परन्तु वह पुकार-पुकारकर कहता है कि 'पशु-भाव' की साधना में इनको कभी ग्रहण न करे, केवल कौलिक ही इनका अधिकारी है। यथा—"पशु के लिए मद्य-मांस सूंघना, देखना, छूना और पीना मना है। कौलिकों के लिए ही उनका सेवन परम फल देनेवाला है। सुरा अन्नों का मल पाप्मा कहलाता है। अतएव ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य सुरा न पिए। यदि मद्य पर दृष्टि पड़ गई, तो सूर्यावलोकन से उसका पाप छूटता है। यदि उसकी गन्ध नाक के अन्दर घुस जाय, तो तीन प्राणायाम करने पर शुद्धि होती है। यदि मद्य छू जाय, तो उपवास करे और तीन रात्रि तक जल में खड़ा रहे। यदि सुरा-पान कर ले, तो उबलती हुई शराब गरम-गरम गले में डाले, उससे मुँह जल जाय, तब वह शुद्ध हो सकता है।"[१]

पश्वाचारी को मद्य, मांस, मैथुनादि से विरत करने के लिए यहाँ तक दलीलें दी गई हैं कि—'यदि मद्य-पान से सिद्धि मिले, तो सब मद्यप सिद्ध हो जाने चाहिए थे। मांस खाने से यदि पुण्य होता

है, तो सब मांसाहारी जीव पुण्यात्मा हैं और यदि स्त्री-सम्भोग मात्र से मोक्ष मिलता है, तो संसार के जन्तु मात्र को मुक्त समझना चाहिए, क्योंकि सभी स्त्री-सम्भोग करते हैं।"[२]

'पश्वाचार' विशुद्ध 'वैष्णवाचार' है और वर्णाश्रम-धर्म के विधि-निषेधात्मक बन्धनों से जकड़ा हुआ है। भाव-चूड़ामणि का कथन है कि पश्वाचारी-'त्रिसन्ध्य देव-पूजा, त्रिसन्ध्य जप करे। रात्रि में भूल कर भी मन्त्र न जपे, माला का स्पर्श न करे। भोजन करने के बाद मन्त्रोच्चारण न करे। सर्व कर्मों में मौन रहे। मैथुन, तत्सम्बन्धी कथा में बोलना, सुनना या मैथुन-सम्बन्धी परामर्श, इनको त्याग दवे।'[३]

---

[१] अनाघ्रेयमनालोक्यं, अस्पृश्यं चाप्यपेयकम्।
मद्यं मांसं पशूनां तु, कौलिकानां महा-फलम् ॥१२४
सुरा वै मलमन्नानां, पाप्मा तु मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण-राजन्यौ, वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥१२६
सुरा-दर्शन-मात्रेण, कुर्यात् सूर्यावलोकनम्।
तत्-समाघ्राण-मात्रेण, प्राणायाम-त्रयं चरेत् ॥१२७
आजानुभ्यां भवेन्मग्नो, जले चोपवसेदहः।
ऊर्ध्वं नाभेस्त्रिरात्रं तु, मद्यस्य स्पर्शने विधिः ॥१२८
सुरा-पाने काम-कृते, ज्वलन्तीं तां विनिक्षिपेत्।
मुखे तया विनिर्दग्धे, ततः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥१२९ कुलार्णव/

[२] मद्य-पानेन मनुजो, यदि सिद्धिं लभेत वै।
मद्य-पान-रताः सर्वे, सिद्धिं गच्छन्तु पामराः ॥११७
मांस - भक्षण - मात्रेण, यदि पुण्या गतिर्भवेत्।
लोके मांसाशिनः सर्वे, पुण्य - भाजो भवन्ति हि ॥११८
शक्ति - सम्भोग - मात्रेण, यदि मोक्षो भवेत् वै।
सर्वेऽपि जन्तवो लोके, मुक्ताः स्युः स्त्री-निषेवणात्॥११९कुलार्णव

[३] त्रिसन्ध्यं देव-पूजां च, त्रिसन्ध्यं जपमाचरेत्।
रात्रौ मन्त्रं च मालां च, स्पृशेन्नहि कदाचन ॥
न मन्त्रमुच्चरेत् भुक्त्वा, मौनी स्यात् सर्व-कर्मसु।
मैथुनं तत्कथालापं, तद्-गोष्ठीं परिवर्जयेत् ॥ भाव-चूड़ाम

इस प्रकार साधना करते-करते पशुत्व के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। साधक का हृदय आर्द्र होने लगता है और कुलार्णव में कथित लक्षणों से वह पहचाना जा सकता है। वे लक्षण ये हैं—

'प्रसन्न, सन्तुष्ट, निर्द्वन्द्व, मात्सर्य-रहित, कुल-सम्बन्धी स्वाध्याय में लगे हुए, शान्त और जगदम्बा के भक्त, कुल-चर्चा चलने पर जिनका आनन्दातिरेक से रोमाञ्च हो उठे, वाणी गद्गद हो जाय और अश्रु-पात होने लगे, वे ही उत्तम कौलिक हैं।'[1]

अतएव गुरु को दीक्षा देने से पूर्व अपने भावी शिष्य की पूरी परीक्षा कर लेनी चाहिए कि जिस साधक को मैं दीक्षित करने जा रहा हूँ, उसने 'वीर-भाव' में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त कर ली है या नहीं। परीक्षा के कुछ नियम शास्त्र ने इस प्रकार बताए हैं—

'जिसे दीक्षा लेनी हो, उसे गुरु अपमान-पूर्वक खींचे और मारे। इस प्रकार खींचे व पीटे-मारे जाने पर जिसे विषाद न हो, बल्कि जो प्रसन्न होकर यह सोचे कि 'अब गुरु महाराज मुझ पर अनुग्रह करनेवाले हैं, ऐसा सोच-सोच कर आनन्द के मारे जिसको कम्प, रोमाञ्च, नेत्र तथा स्वर में विकृति पैदा हो जाय, उस साधक को दीक्षा देने के योग्य समझना चाहिए।'[2]

'पशु-भाव' के बाद उससे उच्चतर सोपान 'वीर-भाव' है।

---

१ निवृत्त-दुःख-सन्तुष्टा, निर्द्वन्द्वा गत-मत्सराः।
कुल-ज्ञान-रताः शान्ताः, त्वद्-भक्तास्ते च कौलिकाः ॥८४॥
कीर्त्यमाने कुले येषां, रोमाञ्चो गद्गदः स्वरः।
आनन्दाश्रु पतेद् देवि! कथिताः कौलिकोत्तमाः ॥ ८६ ॥
कुलार्णव/९

२ आकृष्टस्ताड़ितो वाऽपि, यो विषादं न याति च।
गुरुः कृपां करोतीति, मुदा सञ्चिन्तयेत् सदा ॥२२॥
आनन्द-कम्प-रोमाञ्चं, स्वर-नेत्रादि-विक्रियाः।
येषां स्युस्तेऽत्र योग्याश्च, दीक्षा-संस्कार-कर्मणि ॥२४॥

# वीर - भाव

वामे रामा रमण-कुशला दक्षिणे बालि-पात्रम्,
अग्रे मुद्राश्चषक-बटका शूकरस्वोष्ण-मांसम् ।
तन्त्री वीणा सरस-मधुरा सद्-गुरोः सत्कथायाम्,
कौलो मार्गः परम-गहनो योगिनामप्यगम्यः ।।

अलि-पिशित-पुरन्ध्री भोग-पूजा-परोऽहम् ।
बहु-विध-कुल-मार्गाराध्य-सम्भावितोऽहम् ।
पशु - जन - विमुखोऽहं भैरवीभाषितोऽहम्,
गुरु-चरण-रतोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम् ।।

'पशु-भाव' से साधना करते-करते साधक को अपने इष्ट-देवता चरणों में पूर्ण भक्ति-भाव हो गया। उसको बिना अपने आराध्य- की मूर्ति का पूरा षोडशोपचार-पूजन किए कोई काम अच्छा न लगता। उसके हृदय में कोमलता भी आ गई। दान-पुण्य करने भी अभ्यास हो गया। वह कठिन-से-कठिन व्रत-उपवास भी सकता है और किया करता है। यह सब कुछ हो गया है, परन्तु अ उसे साक्षात्कार नहीं हुआ।

अभी वह अपने आपको इष्ट-देवता से भिन्न समझ रहा है उसके हृदय में द्वैत-भाव बना हुआ है। वह जिस प्रतिमा को अ तक पूजता आ रहा है, उसी प षाण-प्रतिमा पर दैवत्व आरोपित कि हुए है। अभी उसकी साधना का आधार उसका पार्थिव शरीर ही है वह अपने आपको किसी विशेष अवस्था या स्थान या समय में पाकर उपासना कर सकता है। हर एक अवस्था में उससे परमेश्वर अनवरत चिन्तन नहीं हो सकता।

वह कुछ-कुछ समझने लगा है कि ये 'अष्ट-पाश'—घृणा, श प्रभृति बहुत बुरे हैं, परन्तु अभी वह इन्हें छोड़ना तो दूर रहा, ढी भी नहीं कर सका है। इनको तोड़ने के लिए विशेष अनुग्रह (श पात) की आवश्यकता है। वह अनुग्रह-प्राप्ति 'पशु-भाव' से नही सकती।

पहले लिखा जा चुका है कि 'पशु-भाव' से साधक ने जब अपने शरीर तथा मन की शुद्धि कर ली हो, तब उसे 'वीर-भाव' से साधना करनी चाहिए। 'पशु-भाव' की साधना सीधी-सादी होने से उसके लिए गुरूपदेश होना इतना आवश्यक नहीं है, परन्तु 'वीर-भाव' की साधना गुरूपदेश और गुरु के बताए विधान के बिना खाली पुस्तक पढ़कर या लोगों को देखकर कभी न करे। यह 'वीर-भाव' कठिन मार्ग है, जैसा-कैसा तो इसमें गुरूपदिष्ट मार्ग से भी चल कर फिसल जाता है। शास्त्र ने कहा है—

**कृपाण-धारा-गमनात्, व्याघ्र-कण्ठावलम्बनात्।**
**भुजङ्ग - धारणाच्चूनमशक्यं कुल - वर्त्मनम् ॥१२॥ कुलार्णव/२**

अर्थात् 'तलवार की धार पर चलने, बाघ को गले लगाने और विष-धर सर्प को धारण करने से भी कठिन यह कुल-मार्ग है।

'मेरु-तन्त्र' में लिखा है—

**निन्दन्तु बान्धवा सर्वे, त्यजन्तु स्त्री - सुतादयः।**
**जना हसन्तु मां दृष्ट्वा, राजानो दण्डयन्तु वा॥**
**लक्ष्मीस्तिष्ठतु वा यातु, न मुञ्चामि पथान्त्विदम्।**
**एवं यस्य दृढा भक्तिः, स वामे सिद्धिमाप्नुयात्॥**

अर्थात् 'चाहे नातेदार निन्दा करें, स्त्री-पुत्र साथ छोड़ दें, चाहे लोग मुझे देख कर हँसें, चाहे राजा दण्डित करे, लक्ष्मी रहे चाहे जाय, परन्तु इस मार्ग को न छोड़ूंगा। इस प्रकार की दृढ़ भक्ति जिसमें हो, वही 'वाम-मार्ग' (वीराचार) का अधिकारी है।'

'वीराचार' के सम्बन्ध में वशिष्ठ तथा बुद्ध की कथा पढ़ने लायक है। यह कथा 'रुद्र-यामल' के १७वें पटल तथा कुछ हेर-फेर के साथ 'ब्रह्म-यामल' के प्रथम पटल में दी है। कथा इस प्रकार है—

"ब्रह्मा जी के पुत्र वशिष्ठ जी ने एकान्त स्थल में रहकर अत्यन्त कठोर तप ६००० छः सहस्र वर्ष तक किया, परन्तु फिर भी उन्हें गिरिजा का साक्षात्कार न हुआ। वे खिन्न होकर ब्रह्मा जी के पास गए और प्रार्थना की—'मुझे कोई अन्य मन्त्रोपदेश कीजिए। इस विद्या से मुझे सिद्धि-लाभ होता नहीं दीखता, अन्यथा मैं इसको आपके ही समक्ष कठोर शाप से शापित करूँगा।'

"ब्रह्मा जी ने उन्हें रोक कर उत्तर दिया—'हे योग-दत्त पुत्र ! ऐसा न करो। तुम फिर पूर्ण मनोयोग से उस (जगदम्बा) का अर्चन करो, तभी वह प्रत्यक्ष होकर तुम्हें वर प्रदान करेगी। वह महा-शक्ति सब दुःखों से त्राण करनेवाली है। वह करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान, करोड़ों चन्द्रमाओं के समान सुशीतल तथा करोड़ों तड़ित्-पुञ्जों के सदृश है। महा-नील-वर्णा है। वह काल-कामिनी सबकी आदि है। उसमें धर्माधर्म कुछ भी नहीं। वह सर्व-रूपिणी है। उसे शुद्ध 'चीनाचार' प्रिय है। वह शक्ति-चक्र की प्रवर्तिका है। उसका माहात्म्य अनन्त है। वही संसार-सागर की तरणी है। वह बुद्धीश्वरी स्वयमेव बुद्धि-रूपा है। वह अथर्व-वेद-साक्षिणी है। हे पुत्र ! तुम क्यों इतने उतावले होकर शाप देने को तैयार हुए हो ? उस महा-शक्ति की अनन्य-चेता होकर उपासना करो, अवश्य वह तुमको दर्शन देगी।'

"अपने गुरु के इन वचनों को सुनकर वशिष्ठजी फिर तपस्या करने समुद्र-तट पर चले गए। पूरे एक सहस्र वर्ष तक फिर उन्होंने मन्त्र का जप किया, परन्तु उनको कोई आदेश न मिला। मुनि ने क्रुद्ध होकर महा-विद्या (तारा) को कठोर शाप दिया। इस पर कुलेश्वरी महा-विद्या ने, जो योगियों के भय को नाश करनेवाली है, प्रकट होकर कहा—'क्यों विप्र ! तुमने निष्कारण शाप क्यों दिया ? तुम न तो मेरे 'कुलागम' को ही समझते हो और न पूजा-पद्धति ही जानते हो। केवल योगाभ्यास से ही किस प्रकार देवता या मनुष्य मेरे चरण-कमलों का दर्शन प्राप्त कर सकते हैं ? मेरी उपासना कठोर तप तथा काया-कष्ट से नहीं की जाती। मेरी 'कुलागम' की उपासना पुण्यों तथा वेदों से भी ऊँची है (अर्थात् वेद 'पशु-भाव'-परक हैं)। महा-चीन-(प्राचीन-तम देश) में जाओ और अथर्व-वेद के अनुसार चलो। वहाँ जाकर 'चीनाचार' से उपासना करने पर तुमको मेरे पद-कमलों (जो स्वयं महा-भाव हैं) का साक्षात्कार होगा और तुम कुल-ज्ञानी तथा महा-सिद्ध बनोगे।'

"यह कहकर भगवती अन्तर्धान हो गई। महा-विद्या सरस्वती (नील-सरस्वती) से यह सुनकर वशिष्ठ मुनि सबसे प्राचीन देश में गए, जहाँ बुद्ध भगवान् प्रतिष्ठित थे और बुद्ध भगवान् को बार-बार प्रणाम करके मुनि ने कहा—'हे बुद्ध-रूपी शङ्कर ! मैं ब्रह्मा का

पुत्र वशिष्ठ आपकी शरण में आया हूँ। मेरा मन भ्रम से पूर्ण है। मैं यहाँ महा-देवी की साधना करने आया हूँ। मैं सिद्धि-प्राप्ति के मार्ग से अनभिज्ञ हूँ। आप 'दिव्याचार' के ज्ञाता हैं, परन्तु आपके आचार को देखकर मेरे हृदय में नाना प्रकार के भय उत्पन्न हो रहे हैं (वशिष्ठ जी ने यहाँ 'पञ्च-मकार' का सेवन देखा)। मेरे मन से, जो वैदिक आचारों की तरफ झुका हुआ है, इन भयों को दूर कीजिए। हे महाराज ! आपके स्थान में तो मैं वेद-वहिष्कृत आचारों का ही प्राधान्य देख रहा हूँ (मुनि को उस समय यही विश्वास था कि ये आचार वेद-विरुद्ध हैं)। यह क्या बात है कि श्रेष्ठ दिगम्बर सिद्ध-गण रक्त-पानोद्यत होकर मद्य-मांस का सेवन कर रहे हैं और रूपवती रमणियों से केलि कर रहे हैं ? सर्वदा मांसासव से पूर्ण तृप्त होकर इनकी आँखें लाल हो रही हैं ! ऐसे महा-सिद्धों के, जो प्रसन्न होने पर वर देने को और अप्रसन्न होने पर विनाश करने को समर्थ हैं, इन वेद-विरुद्ध आचारों पर किसकी श्रद्धा हो सकती है ? इस प्रकार की प्रवृत्तियों से मनःशुद्धि कैसे सम्भव है ? बिना वेदाचार के सिद्धि कैसे मिल सकती है ?'

"बुद्ध भगवान् बोले—'हे वशिष्ठ ! तुम उस 'कौल - मार्ग' को सुनो, जिसके विज्ञान-मात्र से मनुष्य अल्प-काल में रुद्र-वत् हो जाता है। मैं उस 'कुल-सिद्धि' प्रदान करनेवाले आगम-सार को तुमसे कहूँगा। पहले 'वीराचारी' को शुद्ध, विवेक-युक्त और सर्व-प्रकार से 'पशु-भाव'-रहित होना चाहिए। पशु-सङ्ग को सर्वथा परित्याग करके एकान्त-वास करे, काम-क्रोधादिक षड्-रिपुओं को दूर करे। हठ-योग का अभ्यास करे। वेदाध्ययन करके वेदों के तत्त्वार्थ को अच्छी प्रकार समझ लेवे। अपने मन को सदा औदार्यादि उन्नत वृत्तियों की ओर लगावे। प्राणायाम का अभ्यास करके क्रमशः अपनी मनोवृत्तियों को विनष्ट कर देवे। प्राणायाम का अभ्यास बढ़ता जाय।

"अभ्यास करते-करते उसकी अवस्था ऐसी हो जाएगी कि उसके शरीर से स्वेद-प्रवाह होने लगेगा। यह अवस्था अधम है। इससे उच्च-तर अवस्था में शरीर काँपने लगता है, यह मध्यम अवस्था है। सर्वोच्च अवस्था में साधक भूमि से ऊँचा उठ जाता है। यह

भूमि-त्याग की अवस्था परा है। इस प्रकार प्राणायाम सिद्ध हो जाने से साधक योगी हो जाता है। तब उसे मौनावलम्बन कर शिव, कृष्ण, ब्रह्मा प्रभृति की एकान्त भक्ति करनी चाहिए और मन में ऐसी धारणा करनी चाहिए कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव वायु के समान चञ्चल हैं। तब साधक को अपना मन आदि-शक्ति पर स्थिर करना चाहिए, जो चित्-स्वरूपा है। तब इसके बाद साधक को महा-वीर-भाव से 'कुलाचार' के अनुसार शक्ति-चक्र, वैष्णव सत्व-चक्र तथा नव विग्रह और सकल-दुःख-निवारिणी, सकल-सुख-दायिनी, सर्वोत्तमा, प्रत्यक्ष देवता कुल-कात्यायनी का अर्चन करना चाहिए।

"यह कुल-कात्यायनी जगज्जननी चिद्-रूपा है। यही ज्ञान का आधार है, यही आनन्द की आधार है। कोटि विद्युत्-प्रतीकाशा इसी महा-शक्ति से सब तत्त्व बने हैं। यही अष्टादश भुजाओंवाली रौद्री शक्ति है, जो सुरा तथा मांस के पर्वतोपम ढेरों को पसन्द करती है। मनुष्य को उसकी शरण में रहकर 'कुल-मार्ग' से उसके मन्त्र की साधना करनी चाहिए। त्रैलोक्य में कौन ऐसा है, जो इस मार्ग से अन्य उत्तम मार्ग बता सकता है? इसी मार्ग से साधना कर जगदम्बा की कृपा से ब्रह्मा लोकों की उत्पत्ति, विष्णु स्थिति और शिव संहार करने को समर्थ हैं। इसी 'वीराचार' के प्रताप से दिक्-पाल भी रुद्रोपम हो गए।

"वीर-भाव' से साधना करने पर एक ही मास में आकर्षिणी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। दो मास के अभ्यास से वृहस्पति के समान विद्वत्ता प्राप्त हो जाती है। चार मास के अभ्यास से साधक दिक्-पालोपम, पाँच मास के अभ्यास से काम-देव के समान और छः मास में रुद्र के समान हो जाता है। इस आचार का फल अन्य सभी आचारों से उत्कृष्ट-तम है। इसको शक्ति-सहित करे, तो ब्राह्मण छः मास में पूर्ण योगी हो जाय। बिना शक्ति के जब शिव भी कुछ नहीं कर सकते, तो बहुत थोड़ी बुद्धिवाले मनुष्यों के विषय में क्या कहा जाय।'

"इस प्रकार कहकर बुद्ध-रूपी शङ्कर ने वशिष्ठ मुनि से 'वीराचार' का साधन कराया और मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा शक्ति—इन पञ्च-मकारों से जगदम्बा का अर्चन करने से वे पूर्ण योगी हुए।"

'ब्रह्म-यामल' में बुद्ध-रूपी शङ्कर के बदले बुद्ध-रूपी विष्णु, समुद्र-तट के बदले नीलाचल लिखा है। शेष विवरण प्रायः एक-सा है।

उपर्युक्त कथा से 'वीर-भाव' का साधन स्पष्ट हो जाता है और इसमें सन्देह का कोई स्थान नहीं रह जाता कि 'वीर-भाव' में 'पञ्च-मकार' अपने प्रकृत रूप में ही प्रयुक्त किए जाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्यों ऐसे गन्दे और लोक-विगर्हित पदार्थों से देवता का पूजन किया जाता है? सुरा-पान पञ्च-महा-पापों में से है, मत्स्य-मांस उत्तेजक भोजन है, मैथुन से प्रायः सभी शास्त्रों ने बचने का ही उपदेश किया है। अगर यह अच्छा काम होता, तब क्यों न इस कार्य के करने के लिए लोक-वर्ग को उपदेश किया जाता? ज्यादा लिखना व्यर्थ है—दुनियाँ के एक कोने से दूसरे कोने तक के लोगों में इन 'मकार'-चतुष्टय की प्रायः निन्दा ही सुनी जाती है, और आम तौर पर धर्म-भीरु समाज का यही विश्वास है कि तमाम धर्मों ने इनकी निन्दा ही की है, परन्तु यदि विद्वत्-समाज जरा बारीकी से धर्म-शास्त्रों का अध्ययन और मनुष्य के नित्य के सामाजिक जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने बैठे, तो उसे पता लग जायगा कि ये पाँचों 'मकार' मानव की भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं और सभी धर्मों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इनका प्रतिपादन किया है।

'कालिका पुराण' का कथन है कि "जब ब्रह्मा जी ने सृष्टि उत्पन्न की, तब उनके हृदय की अत्यन्त कोमल भावना के फल-स्वरूप एक त्रैलोक्य-मोहनी रमणी उत्पन्न हुई, जिसको देखकर ब्रह्मा जी के मानस पुत्रों का क्या कहना, स्वयं ब्रह्मा जी विचलित हो उठे और इसके फल-स्वरूप एक त्रैलोक्य-मोहन पुरुष गौर-वेश में इक्षु-धनुष तथा पाँच पुष्प-बाणों से सज्जित होकर ब्रह्मा जी के मानस से उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा जी ने स्त्री का नाम "रति" तथा पुरुष का नाम "काम" रखकर दोनों को विवाहित कर दिया। इसी रति-काम-मिथुन में सृष्टि का आदि भाव अन्तर्निहित है।

रति-काम के उत्पन्न होने से पूर्व ब्रह्मा जी मानसी सृष्टि करते थे, पर इस कार्य में भरोसा ही क्या था! प्रचोदना तो कुछ थी ही

नहीं। जगज्जननी ने यह देखकर अपनी स्व-शक्तियों से रति-काम को उत्पन्न किया, जिससे उसकी सृष्टि चलती रहे। संसार के जन्तु-मात्र काम के कोमल पुष्प-शरों से विद्ध होकर बरबस सृष्टि उत्पन्न करने को बाध्य हों। फिर इस सम्भोगानन्द के वश-वर्ती होकर बनाए हुए इस संसार-चक्र में घूमते रहें। यही जगदम्बा की इच्छा है। गीता में कहा है—

**ईश्वरः सर्व-भूतानां, हृद्-देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।**
**भ्रामयन् सर्व-भूतानि, यन्त्रारूढानि मायया ॥६१**

अर्थात् "परमात्मा (जगज्जननी) सब प्राणियों के हृदय-देश में विराजकर उन्हें अपने माया-यन्त्र में बैठाकर घुमाते रहते हैं।"

जगज्जननी की यह आज्ञा है कि गृहस्थ बनो, सन्तानोत्पत्ति करके उसका पालन करो, न कि लँगोटी लगाकर जङ्गल-जङ्गल की खाक छानो और उसके बनाए हुए शरीर की इस प्रकार मिट्टी खराब करो ! किसी महात्मा का इस विषय में क्या ही सुन्दर उपदेश है—

**श्रीपद ध्यान धरो हिरदै, जो कछू धन है सो यही धन है।**
**गुरु-ज्ञान की गूदरि डारो गरे, तन छार करो घर ही बन है॥**
**अजपा-जाप सुजाप जपो, अरु सिद्ध-मढ़ो अपनो तन है।**
**जिन सों घर माँझ कछू न बने, उन सो बन माँझ कहा बनिहै॥**

इसीलिए उसने विषयानन्द में भौतिक आनन्द की पराकाष्ठा कर दी। इसीलिए काम को धनुष-बाण-सहित उत्पन्न किया। इतने पर भी श्री शिव जी ने पगहिया तुड़ाने का प्रयत्न किया था, कामदेव को भी भस्म कर दिया। तभी शायद जगज्जननी को ये आयुध स्वयं धारण करने पड़े—

**बालार्क-मण्डला-भासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।**
**पाशांकुश-शरांश्चापं धारयन्तीं शिवां भजे॥**

'सौन्दर्य-लहरी' में भी लिखा है—

**क्वणत्-काञ्ची-दामा करि-कलभ-कुम्भ-स्तन-भरा।**
**परिक्षीणा मध्ये परिणत - शरच्चन्द्र - वदना॥**
**धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना कर - तलैः।**
**पुरस्तादास्तांनः पुर - मथितुराहो पुरुषि का॥७॥**

तभी श्री शिव को आचार्य-पाद श्री शङ्कर के रूप में अवतार ग्रहण कर (ब्रह्मचारी होने पर भी) यह प्रार्थना करनी पड़ी—

**नरं वर्षीयांसं नयन-विरसं नर्मसु जडम्।**
**तवापांगाल्लोके पतिमनु - धावन्ति शतशः ॥**
**गलद्-वेणी-बन्धाः कुच-कलश-विस्रस्त-सिचया ।**
**हठात् त्रुटयत्-कांञ्च्यो विगलित-दुकूला युवतयः ॥१३॥**
(सौन्दर्य-लहरी)

जो साधक 'श्रीयन्त्र' का पूजन करते हैं, उनको स्पष्ट-तया ज्ञात ही है कि वह 'यन्त्र-राज' विराट् प्रकृति का चित्र है। उसके आचरणों पर मनन करने से सन्देह नहीं रह जाता कि जगज्जननी अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों से जीव का आकर्षण करके संसार में प्रवृत्त करती हैं। इसीलिए 'श्रीदुर्गा-सप्तशती' में सुमेधा ऋषि ने राजा सुरथ से कहा है—

**ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा।**
**बलादाकृष्य मोहाय, महा-माया प्रयच्छति ॥**

किसी भी धर्म ने सम्भोग को निन्दनीय नहीं कहा है। स्त्री-पुरुष का 'विवाह-संस्कार' इसी के लिए तो होता है। यदि यह बन्द कर दिया जाय, तो सृष्टि ही कैसे चले ? सृष्ट्युत्पत्ति प्रकृति और विनाश विकृति है। अपने विपरीत चलनेवाले को प्रकृति कैसे सह सकती है ? सम्भोग प्राकृतिक कर्म होने से उत्तम कर्म सिद्ध है। जब यह प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक कर्म है, प्राकृतिक कार्य है, तो इसका करना प्रकृति (जगदम्बा) का पूजन ही तो है।

पूजन का अर्थ यह नहीं है कि देव-प्रतिमा पर गन्धाक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ा दिया और बस...पूजन का अर्थ है—"पूजित का परितोष"। यदि आप इस धूप, दीप, नैवेद्यादिक के ढकोसले को न करें और प्रकृति की आज्ञानुसार अपना निर्दिष्ट कर्म करते जायँ, तो वह आप पर प्रसन्न होगी और यदि आप उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन कर अपना निर्दिष्ट कर्म तो छोड़ दें और उसके बदले उसकी एक कल्पित मूर्ति गढ़कर उस मूर्ति को मल-मलकर नहलाएँ, फूलों से उसका शृङ्गार करें और उसके सामने लम्बी-चौड़ी प्रार्थनाएँ पढ़ें, तो वह अप्रसन्न ही होगी।

किसी पुत्र का पिता उससे कहे कि 'बेटा, तुम्हारी परीक्षा के दिन निकट हैं, पढ़ने में परिश्रम करो', परन्तु पुत्र कहे, 'नहीं पिता जी, मैं तो आपके पैर दबाऊँगा, पढ़ूँगा नहीं', तो विचार कीजिए, पिता उस पुत्र पर क्या प्रसन्न होगा ? माँ ने बड़ी साध से इतनी सन्तानें पैदा कर रक्खी हैं कि ये मेरी सृष्टि चलाएँगे, मगर बेटे राम माँ की साध पर लात मार कर लँगोटी लगाए बैठे हैं !

'विवाह' सम्भोग के ही हेतु होता है। इसके लिए व्यर्थ की दलील करना पिष्ट-पेषण-मात्र ही है। सारे संसार के अब तक के प्रचलित धर्म-ग्रन्थों में देखिए, आपको मिलेगा कि इतने अधिक आडम्बर तथा उत्सव और पूजोपचार के साथ मनुष्य का कोई संस्कार नहीं होता, जितना विवाह-संस्कार में किया जाता है। यदि यह कर्म निन्दित ही होता, तो उसके लिए इतना आडम्बर और उत्सव करने की क्या आवश्यकता थी ? ईसाई, मुसलमान प्रभृति धर्मों में तो विवाह-संस्कार तक ही अलम् समझ लिया गया, परन्तु हमारे वेदों ने और धर्म-शास्त्रों ने तो "गर्भाधान" को भी एक संस्कार माना है और उसके लिए विधि तथा मन्त्र दिए गए हैं। देखिए, 'पारस्कर-गृह्य-सूत्र', काण्ड १, कण्डिका ११, सूत्र ७-८—

"तामुद्वह्य यथर्तु-प्रवेशनम्"—सूत्र ७
"यथा कामी वा काम विजनितोः
सम्भवामेति वचनात्"—सूत्र ८

'गदाधर भाष्य' में इन दोनों सूत्रों का अर्थ इस प्रकार बताया है—

**स्व-भार्याऽभि-गमनमाह तां बधूं पूर्वोक्त-विधिना उद्वह्य विवाह-यित्वा यथर्तु ऋतावृतौ प्रवेशनमभि-गमनं कुर्यादित्यर्थः ॥७॥ स्त्रियः काममनतिक्रम्य यथा-कामं तदस्यास्तीति यथा-कामी वा भवेत्। न नियम ऋतो व्येवति। कुत एतत् ? काम-भावि जनितो सम्भवामेति वचनात् कामं स्वेच्छया अविजनितोः आप्रसवात् सम्भवाम भर्त्रा सह सङ्गता भवामेत्यर्थः ॥ ८ ॥**

अर्थात् पूर्वोक्त विवाह-विधि से विवाहिता स्त्री के साथ पति ऋतु-काल में अभिगमन करे। अथवा जब स्त्री की इच्छा हो, तब प्रसूति-समय तक सम्भोग करे। तात्पर्य यह हुआ कि ऋतु-मती न होने पर भी यदि उसकी सम्भोग की इच्छा हो, तो उसे पूरा करे। ऋतु के

अतिरिक्त यथा-काम सम्भोग के विषय में भाष्यकार ने तैत्तिरीय श्रुति का प्रमाण दिया है कि जब इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगी, तो उस ब्रह्म-हत्या का तीसरा भाग स्त्रियों को दिया गया और स्त्रियों ने उसके बदले माँगा कि सन्तान प्रसव करने के समय तक हम यथेच्छ सम्भोग कर सकें। इससे पहले स्त्रियाँ केवल ऋतु-काल पर ही सम्भोग कर सकती थीं।

सम्भोग-सम्बन्धी कर्म-काण्ड को पढ़कर पता चल जाता है कि आर्य लोग इस कर्म को परम पुनीत धार्मिक कृत्य समझते थे। इतना ही नहीं, अपितु हमारे आर्य-सिद्धान्त के अनुसार सम्भोग यज्ञ है। देखिए 'शतपथ ब्राह्मण'—**स्त्री-पुरुष की रति-क्रिया अग्निहोत्र है।** ऐतरेय ब्राह्मण—**स्त्री-देवता का पूजन बिना पुरुष-देवता के विहित नहीं है।** और—**श्रद्धा, सत्य सर्वोत्तम सम्भोग हैं।** लाटायन श्रौ० सू०, कात्यायन श्रौ० सू० एवं अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार यह एक धार्मिक कृत्य ( अथवा धार्मिक कृत्य का अङ्ग ) है और इसमें मन्त्र पढ़े जाते हैं। वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थों और उनमें दिए गए अग्निहोत्र-विधान को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक आर्यों के अनुसार यह एक धार्मिक कृत्य है और साग्निक द्विज बिना इसके रह ही नहीं सकता। 'शतपथ ब्राह्मण' में इड़ा (एक स्त्री) के मुख से कह-लवाया गया है कि—"यदि तू योग-काल में संसर्ग रखेगा, तो मेरे कारण जो कुछ पुण्य उपलब्ध होगा, वह तुझे मिलेगा।"

आजकल हमारे समाज में श्रौत-स्मार्त हिन्दू अग्नि-होत्रियों का जो कर्म-काण्ड प्रचलित है, उसमें भी यज्ञ के समय जब अग्नि-स्थापन किया जाता है, तब अपने देवता के कामोन्मत्त तथा उसकी शक्ति के ऋतु-मती होने की कल्पना की जाती है। यज्ञ-वेदी अथवा कुण्ड को देवी की योनि और उसमें जो अग्नि स्थापित की जाती है, उसको देवता का वीर्य माना जाता है और इसे अग्नि का 'गर्भाधान-संस्कार' कहते हैं।

सौर, शैव, शाक्त तथा गाणपत्य—ये चार सम्प्रदाय तो खैर, किसी-न-किसी हद तक 'पञ्च-मकार' के प्रयोग के सम्बन्ध में बदनाम हैं ही, परन्तु आम तौर पर वैष्णव सम्प्रदायवालों, जिनको 'पञ्च-मकार' से दूर ही समझा जाता है, उनके यहाँ भी अग्नि-होत्र कर्म

वैसा ही होता है, जैसा अन्य चार सम्प्रदायों में। देखिए, शाक्त-प्रमो तान्त्रिक होम-विधि। नारद-पञ्च-रात्रोक्त होम-विधि में लिखा है—

**ऋतु-स्नातां महा-लक्ष्मीमानयेत् कुश-विष्टरे।**
**सम्पूज्य लक्ष्मी-मनुना, पद्माक्षां पद्म-सम्भवाम् ॥६४॥**
**क्षीरोदाराशि - सम्भूतां, विष्णोरनप - गामिनीम्।**
**मातरं सर्व - जगतो, रिरिशु विष्णुमानयेत् ॥६५॥**
**संस्थितं ऋतु - दानाय, कर्तात्रमखिलेश्वरम्।**
**रेतोरुप - समानीय, वह्नि - चारिणि सम्भवम् ॥६६॥**
**आत्मनोऽभिमुखं वह्निं, जानुभ्यामवनी - गतः।**
**विष्णु - वीर्य - धिया देव्या, योनावेनं विनिक्षिपेत् ॥७१॥**

अर्थात् लक्ष्मी को ऋतु-मती कल्पना करे और विष्णु को सम्भो गोद्यत और तब अरणी-जन्य अग्नि को विष्णु-वीर्य समझ कर और यज्ञ-कुण्ड को लक्ष्मी की योनि समझ कर जमीन में घुटने टेक कर अग्नि-कुण्ड में डाले।—(नारद-पञ्चरात्रोक्त होम-विधि)।

तात्पर्य यह कि कोई भी धर्म संसार में अद्यावधि ऐसा नहीं हुआ, जिसने प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से इसका समर्थन न किया हो। संसार भर में भारत-वर्ष ही एक ऐसा देश है, जहाँ ऐसे मत-मतान्तर भी हैं, जिनमें प्रत्यक्ष रूप से इसकी निन्दा की गई है, परन्तु परोक्ष रूप से इसका प्रतिपादन किया है। बौद्ध और जैन-मतों में यद्यपि संसार-त्याग ही धर्म है और गृहस्थ रहना पाप है, परन्तु इन धर्मों के धर्म-गुरुओं को भी गृहस्थों को अपना चेला बनाना पड़ा। बौद्धों ने 'वाम-मार्ग' को इतना अधिक ग्रहण किया है कि शायद ही कोई बौद्ध-तन्त्र हो, जिसमें 'वीराचार' तथा 'पञ्च-मकार' की महिमा न गाई गई हो।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्त्री-सम्बन्ध सब धर्मों, समाजों और जातियों में अच्छा कार्य ठहराया गया है और जिन धर्मों (जैन, बौद्ध) ने इसको बुरा बताया है, वे और उनके अनुयायी भी इसको नहीं छोड़ सके, बल्कि इस समय तो जैन और बौद्ध-धर्मावलम्बी ब्रह्मचारी बहुत ही कम देखने में आते हैं। अन्य 'मकार-चतुष्टय' (यानी मुद्रा, मद्य, मांस तथा मीन) का व्यवहार भी सम्भोग की तरह

प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-रूप में सभी धर्मों तथा जातियों ने किया और कर रहे हैं। 'मुद्रा' के विषय में तो कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि मुद्रा सिर्फ चर्वणीय अन्न मात्र है। अब प्रश्न केवल 'मांस', 'मीन' तथा 'मद्य' के ही विषय में है।

संसार के सभी धर्मों का मूल-स्रोत वेद हैं, इसमें सन्देह करने की अब कोई गुञ्जाइश नहीं रह गई है। वैदिक आर्य मद्य-मांस का अपने यज्ञों और उत्सव में खूब प्रयोग करते थे। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि मद्य-मांस उनके नित्य के खान-पान के प्रिय पदार्थों में से थे। इनकी प्रशंसाओं तथा प्रयोग-विधियों से सारा वैदिक साहित्य भरा पड़ा है। वैदिक आर्य 'सोम-यज्ञ' तथा 'हविर्यज्ञ' किया करते थे, जिनमें से एक यज्ञ 'सौत्रामणि' था, जिसमें मद्य से पूजनादिक होता था और मद्य-पान होता था। यथार्थ में यह यज्ञ मद्य-पान के ही लिए किया जाता था, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी। देखिए 'शतपथ ब्राह्मण' (५, १, १३)।

'श्रौत-सूत्रों' को देखने से भी इस यज्ञ का विशद परिचय ज्ञात होगा, 'शतपथ ब्राह्मण' में यह भी कहा है कि मद्य यजमान को पवित्र करता है और मद्य स्वयं ही पवित्र है। ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल में ऋषि काक्षिवान् ने मद्य की बहुत प्रशंसा की है। धर्म-सूत्रों ने अनियन्त्रित मद्य-पान की निन्दा की है। देखिए 'आप-स्तम्ब धर्म-सूत्र'।

वामन-शास्त्रि किजवड़े कृत 'पश्वालम्भ-मीमांसा' की भूमिका (पृष्ठ ६, १०, ११), तैत्तिरीय संहिता (३-१-४) में पशु के मांस को हवि कहा है। ऋग्वेद-संहिता (५-२-२२) में अग्नि में पशु के मेद का होम करने का विधान कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (६-८) के अनुसार आर्य-गण नर-बलि, अश्वालम्भ आदि भी करते थे। कात्यायन-श्राद्ध-कल्प-सूत्र (६-७) के अनुसार 'छाग, उष्ट्र, मेष को स्वयं मार कर अथवा उनके मांस को स्वयं खरीद कर या किसी अन्य प्रकार से उपलब्ध कर उस मांस को पितरों के लिए पकावे।'

कात्यायन-श्राद्ध-कल्प-सूत्र (कण्डिका ७ / ८) में श्राद्ध-हवि की पूरी सूची दी गई है। उसमें—छाग, उष्ट्र, मेष, मत्स्य, हरिण, शकुनि, जंगली मेढ़ा, कछुवा, वराह, महिष इत्यादि स्थल, जल तथा

नभ-चर प्राणियों के मांस को श्राद्ध हवि बताया है। खड्ग (गैंड लोहित छाग, महा-शल्क (मत्स्य) के मांस से पितरों को अक्षय तृ होता है। इन्हीं को स्मृतिकारों ने श्राद्ध-हवि माना है।

मनुस्मृति (अध्याय ३/२६८ से २७९) में लिखा है कि 'पितरों लिए नाना प्रकार के भक्ष्य-भोज्य, फल-मूलादि, सुस्वादु मांस त सुगंधित पानीय प्रदान करने चाहिए।' अन्य स्मृतियों ने भी यही क है। मांस-विरोधी लोग इसके खण्डन में पराशर-स्मृति का एक श्लो बहुत उद्धृत करते हैं—

**अश्वालम्भं गवालम्भं, संन्यासं पल-पैत्रिकम्।**
**देवराच्च सुतोत्पत्ति, कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥**

इसके विषय में निवेदन है कि इसी श्लोक से मांस का व्यवहा पूरा सिद्ध होता है। इस श्लोक का आदेश है कि कलियुग में अश्व लम्भ, गवालम्भ और मांस से पितरों का श्राद्ध वर्जित है। इससे त बातें सिद्ध हुईं। एक तो यह कि कलियुग से पहले ये तीन बातें होत थीं। दूसरी यह कि मांस का सम्बन्ध उपर्युक्त तीन ही बातों वर्जित है। अर्थात् यह श्लोक पशु-बलि तथा मांस के प्रयोग के सम्बन्ध में अपवाद है। इन दो प्रकार के बलिदान तथा श्राद्ध में मांस-प्रयो को छोड़ कर अन्य प्रकार की पशु-बलि (जैसे महिष, छाग प्रभृति) अन्य कार्यों (जैसे विवाह, उपनयन, देव-पूजन प्रभृति) में मांस क प्रयोग होता है, परन्तु 'पराशर-स्मृति' मनु, याज्ञवल्क्य के समान सर्व-मान्य नहीं है। 'पराशर-स्मृति' का चलन भारत-वर्ष में सिर्फ मद्रास प्रान्त में है।

श्राद्ध में मद्य का प्रयोग होता है। देखिए कात्यायन-कल्प-सूत्र (३/६) का गदाधर-भाष्य। यजुर्वेद-संहिता (२।३४।१) का मन्त्र **'उर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् स्वधास्तर्पयन्त मे पितॄन्'** स्पष्ट है। इस मन्त्र से पितरों की तृप्ति के लिए अमृतोपम चार वस्तुएँ प्रदान करने का वर्णन है। यथा—घृत, पय, कीलाल तथा परिस्रुत याने घी, दूध, जल तथा सुरा। 'परिस्रुत' सुरा को कहते हैं। **'सुरा, हलि-प्रिया, हाला, परिस्रुद्-वरुणात्मजा'**—अमर-कोष। इसी कल्प-सूत्र (३।७७) के गदाधर-भाष्य में श्राद्ध में ब्राह्मणों के विसर्जन का मन्त्र इस प्रकार है—

**वाजे वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः।**
**अस्य मध्वः पिवत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देव-यानैः॥**

इस मन्त्र के शब्दों में '**अस्य मध्वः पिवत मादयध्वम्**' पर ध्यान दीजिए। इनका अर्थ है—'इस मधु को पीकर नशे में उन्मत्त हों।' अच्छा, 'मधु' शहद को भी कहते हैं और 'मद्य' को भी; यहाँ पर मधु का अर्थ मद्य ही है। यह दो बातों से सिद्ध होता है। एक तो शहद पिया नहीं जाता, मद्य पिया जाता है। दूसरे शहद खाकर नशा नहीं होता, मद्य पीकर होता है। 'वैदिक ग्रन्थों' में एक नहीं, सहस्रों प्रकरण मद्य-मांस के प्रयोगों के हैं। उपर्युक्त थोड़े-से उद्धरण उदाहरण-स्वरूप दिए गए हैं। विशेष जानने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है।

वैदिक ही नहीं, पौराणिक साहित्य में भी इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि मद्य-मांसादिक का उस काल के लोगों में अबाध प्रचार था। 'ब्रह्माण्ड पुराण' के मध्य-भाग उपोद्घात-पाद के अध्याय उन्नीस में श्राद्ध-हवि में मांस-मत्स्य का प्रयोग वैसा ही बताया है, जैसा कि 'मनु-स्मृति' में। देखिए (इस अध्याय के श्लोक २ से ६ तक)—मद्य-पान करने से ऋषि का नाम कश्यप पड़ा—'**कश्य मद्यं स्मृतं विप्रैः कश्य-पानात्तु कश्यपः।**'

भविष्य-पुराण, ब्राह्म-पर्व, अध्याय ७३ में श्रीकृष्ण का, अपनी रानियों के साथ, द्वारिका-पुरी में मद्य-पानादिक का वर्णन है। लिङ्ग-पुराण, पूर्व-भाग, अध्याय ७८ में लिखा है कि 'आपव नाम का एक शक्ति-पूजक ब्राह्मण था, जो मद्य-पान में तत्पर रहता था। वह श्रीभद्र-काली का प्रिय भक्त था। यही आपव ब्राह्मण देवी के वर से दूसरे जन्म में वरुण-देवता हुआ।'

'आश्विन के शुक्ल-पक्ष की महा-अष्टमी व महा-नवमी को श्री-चण्डिका का पूजन किया जाता है, जिसमें मेष, छाग तथा महिषादिक की बलि दी जाती है और जितना भगवती महिष बलि से प्रसन्न होती है, उतना दूसरे पशु की बलि से नहीं। भक्त-जनों को चाहिए कि भगवती को मेष, छाग, महिष की सौ, पचास, पच्चीस या जितनी शक्ति हो, बलि दें और मद्य से घट - स्थापन कर जगदम्बा का तर्पण करें। कापालिकों को मद्य-मांस से जिमावें तथा प्रसाद-स्वरूप इस

मद्य-मांस को स्वयं ग्रहण करें और अपने इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव त
सेवकों में वितरण करें'—श्रीकृष्ण का वाक्य अर्जुन के प्रति, भविष्
पुराण, उत्तर-पर्व, अध्याय १३८ ।

मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत दुर्गा-सप्तशती (अध्याय १२) में स्व
देवी ने अपने श्रीमुख से कहा है—'पशु, पुष्प, धूप, दीप से मेरी पू
करनी चाहिए' । महिषासुर-युद्ध (अध्याय ३) में देवी ने मद्य-पा
किया और फिर नशे से लड़खड़ाती वाणी में महिषासुर को डाँटा

'धार्मिक कार्यों के निमित्त राजा मृगया में मेध्य (जिनका मां
खाने योग्य हो) पशुओं का उतनी ही संख्या में वध करे, जित
पर्याप्त हो । लोभ-वश आवश्यकता से अधिक का वध न करे, य
नियम है'—श्रीमद्-भागवत, स्कन्ध ४, अध्याय २५, श्लोक-६ ।

'राजा गय के यज्ञ में देव-राज इन्द्र ने इतना अधिक सोम-प
किया कि वे उन्मत्त हो गए'—श्रीमद्-भागवत (५-१५-१२) ।

'जब श्री बलराम जी गोपियों के साथ व्रज-वनों में यमुना
तीर रमण कर रहे थे, तब उनके लिए वरुण ने वारुणी देवी (सुर
को वृक्ष-कोटर में भेजा । उसकी उन्मत्त करनेवाली गन्ध को,
वायु में फैल रही थी, सूँघकर व्रज की स्त्रियों के साथ बलराम
वृक्ष-कोटर पर पहुँचे और स्त्रियों के साथ उस (वारुणी) को पिय
जिससे नशे के कारण उनके नेत्र विह्वल हो गए' इत्यादि—श्रीम
भागवत १० (उत्तरार्ध)-६५; श्लोक १६, २० ।

'यादवों ने प्रवास-क्षेत्र में एकत्रित होकर मैरेय नाम की मद्य
और उससे मदोन्मत्त होकर आपस में लड़ने लगे'—श्रीमद्-भाग
११-३०, श्लोक १२-१३ ।

ईसाई, मुसलमान और यहूदियों के भी यही हाल हैं । ईसाइ
और यहूदियों में ईश्वर की पूजा में मांस-मद्य का प्रयोग होता है
मुसलमानों में यद्यपि इह-लोक में मद्य-सेवन वर्जित है, परन्तु स्व
में मुसलमानों को मद्य पीने को मिलती है । मांस के विषय में कह
ही क्या है, मुसलमानों के बकरीद के त्योहार से सभी परिचित हैं

वैष्णव धर्म ही केवल ऐसा है, जिसके अनुयायी मद्य-मांस
अत्यन्त ही घृणा की दृष्टि से देखते हैं और इनका सेवन जघ
पाप समझते हैं, परन्तु उनकी सर्व-मान्य पुस्तक श्रीमद्भागवत

ही मद्य-मांस-सेवन का प्रतिपादन होता है। भगवान् के अवतार श्री बलराम जी मद्य के नशे में सदा चूर रहते थे और इसी कारण मद्य का नाम 'हलि-प्रिया' अर्थात् 'हलधर—बलराम की प्रिया' पड़ गया। सर जान उडरफ ने अपनी पुस्तक 'शक्ति ऐण्ड शाक्त' में पृष्ठ ३४६ पर लिखा है कि भारत-वर्ष के प्रसिद्ध वैष्णव-पीठ श्रीजगन्नाथजी में जो भगवान् को भोग लगता है, वह मद्य से प्रोक्षित किया जाता है। यथा—

"इस प्रसङ्ग में मैं यह लिखना भी उचित समझता हूँ कि दुर्गा-पूजा के अवसर पर तो देवता का प्रसाद मद्य से प्रोक्षित किया ही जाता है और इस प्रसाद को शाक्त ही नहीं वरन् शाक्तातिरिक्त लोग भी ग्रहण करते हैं परन्तु पुरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर में भी प्रसाद पर मद्य छिड़का जाता है (यद्यपि इस बात को सर्व-साधारण नहीं जानते) और उस प्रसाद को सभी ग्रहण करते हैं।"

इसी बात को देखते हुए श्रीमद्भागवत ११-५-११ को ही यह मत स्थिर करना पड़ा कि—

**लोके व्यवायामिष मद्य-सेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।**
**व्यवस्थितस्तेषु विवाह - यज्ञ - सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥**

अर्थात्—'इस दुनियाँ में किसी से यह कहना नहीं पड़ता कि तुम सम्भोग, मांस और मदिरा का सेवन करो; ये बातें मनुष्य को स्वभाव से ही प्रिय हैं। इन तीनों की कुछ व्यवस्था कर देने के लिए अर्थात् इनका उपयोग कुछ मर्यादित करने के लिए (शास्त्रों ने) अनुक्रम से विवाह, सोम-याग और सौत्रामणि-यज्ञ की योजना की है, परन्तु इस पर भी निवृत्ति इष्ट है।'

अब तक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि 'पञ्च-मकार' का सेवन किसी भी धर्म में निन्दनीय नहीं है। हाँ, इनका अमर्यादित-उच्छृङ्खल सेवन नहीं होना चाहिए। सम्भोग अपनी पत्नी से करना चाहिए, पर-पत्नी से नहीं। मद्य-मांसादिक (बाकी मकार-चतुष्टय) को अपनी जिह्वा-तृप्ति के हेतु सेवन नहीं करना चाहिए, बल्कि देवता को अर्पण कर फिर प्रसाद-स्वरूप इनका सेवन करना चाहिए।

अब ऐसी दशा में वीराचारियों की उपासना में इन मकारों का प्रयोग करने के कारण उन्हें घृणा की दृष्टि से क्यों देखा जाता है, यह समझ में नहीं आता !

'कुलाचार' साधना का मार्ग है और इसमें पञ्च-मकार का प्रयोग केवल अष्ट-पाशों का छेदन कर जीव को स्वतन्त्र-उन्मुक्त करने के निमित्त ही किया जाता है। आगे चलकर यह बताने का प्रयत्न किया जाएगा कि 'वीर-भाव' (कुलाचार) के अनुसार 'पञ्च-मकार' केवल साधना में ही प्रयुक्त होते हैं और 'वाम-मार्ग' में यदि सारा संसार प्रवेश कर जाय, तो अधिकांश लोगों का मद्य-मांस, स्त्री-सेवन सदा के लिए छूट जाय। तन्त्रों में 'वीराचार' के नियम तथा 'पञ्च-मकार' के प्रयोग के विषय में जो आज्ञाएँ दी गई हैं, उनको देखने से यह पूर्ण-तया सिद्ध हो जाता है कि पञ्च-मकार के सेवन के विषय में वाम-मार्गियों के नियम अत्यन्त ही कठिन हैं और जितनी अधिक रोक इनके प्रयोग के सम्बन्ध में 'वीराचार' की साधना से हो सकती है, उतनी अन्य धर्मों तथा आचारों की साधना से नहीं। तन्त्र की ऐसी कुछ आज्ञाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—कुलार्णव, उल्लास २, श्लोक १२३।

**वृथा - पानं तु देवेशि, सुरा - पानं तदुच्यते।**
**तन्महा - पातकं ज्ञेयं, वेदादिषु निरूपितम्॥**

'हे देवेशि ! वृथा-पान (बे-मतलब का; बिना पूजन किए) को ही मद्य-पान कहते हैं और वेदादि शास्त्रों ने इसे महा - पातक बताया है।'—

**तस्मादविधिना मांसं, मद्यं न सेवते क्वचित्।**
**तृणं वाप्यविधानेन, छेदयेन्न कदाचन।**
**विधिना गां द्विजं वापि, हत्वा पापैर्न लिप्यते॥**

अतएव बिना विधि के मांस-मद्य का कभी सेवन न करे। बिना विधान के तृण का भी छेदन न करे और विधि-विहित रीति से हिंसा करने पर भी पाप नहीं है। कुलार्णव, उल्लास २, १३४, १३५।

**पितृ - दैवत - यज्ञेषु, वैध-हिंसा विधीयते।**
**आत्मार्थं प्राणिनां हिंसा, कदाचिन्नोदिता प्रिये॥**

अनिमित्तं तृणं वापि, छेदयेन्न कदाचन ।
देवतार्थं द्विजार्थं वा, हत्वा पापैर्न लिप्यते ।।
मत्स्य-मांस - विहीनेन, मद्येनापि न तर्पयेत् ।
न कुर्यान्मत्स्य-मांसाभ्यां, विना द्रव्येण पूजनम् ।।
मन्त्र - पूतं कुल - द्रव्यं, गुरु - देवार्पितं प्रिये ।
ये पिबन्ति जनास्तेषां, स्तन्य - पानं न विद्यते ।।
निःशङ्को निर्भयो वीरो, निर्लज्जो निष्कुतूहलः ।
निर्णीत - वेद-शास्त्रार्थी, वरदां वारुणीं पिबेत् ।।

वैध-हिंसा वही है, जो दैवत तथा पितृ-यज्ञों में विहित हो । अपने स्वाद के लिए, हे प्रिये ! प्राणि-वध कदापि विहित नहीं है । व्यर्थ तृण भी न तोड़े । देवता अथवा द्विज के अर्थ जीव-घात करने पर पाप नहीं होता । बिना मत्स्य-मांस के केवल मद्य ही से कभी तर्पण (पूजन) न करे और न मद्य के बिना केवल मत्स्य-मांस से ही ऐसा करे । मन्त्रों से पवित्र किया हुआ कुल-द्रव्य (मद्य) गुरु तथा देवता को अर्पण कर जो पीते हैं, वे जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ।

जिसको किसी से शङ्का नहीं है, भय नहीं है, जो वीर है और लज्जा व कुतूहल से रहित है और जिसने वेद तथा शास्त्रों का अध्ययन कर उनका अर्थ पूर्ण-रीत्या हृदयङ्गम कर लिया है, वही मनुष्य वर-दात्री वारुणी के पान करने का अधिकारी है ।

देवान् पितॄन समभ्यर्च्य, देवि ! शास्त्रोक्त-वर्त्मना ।
गुरुं स्मरन् पिबन्मद्यं, खादन्मांसं न दोष-भाक् ।।
मन्त्रार्थं - स्फुरणार्थाय, मनसः स्थैर्य - हेतवे ।
भव - पाश - निवृत्त्यर्थं, मधु - पानं समाचरेत् ।।
मत्स्य - मांस - सुरादीनां, मादकानां निषेवणम् ।
याग - कालं विनाऽन्यत्र, दूषणं कथितं प्रिये ।।
(कुलार्णव, पञ्चमोल्लास)

आवृत्तिं गुरु-पंक्तिं च, वटुकादीन्न पूज्य यः ।
वीरोऽप्यत्र वृथा पानी, देवता - शापमाप्नुयात् ।।
असंस्कारो तु योनौ स्यात्, पञ्च-मुद्रा निषेवते ।
कुलेशि ! ब्रह्म-निष्ठोऽपि, निन्द्यतामधिगच्छति ।।

"हे देवि ! शास्त्रोक्त मार्ग से देवता तथा पितरों का पूजन कर मांस खानेवाला और मद्य पीनेवाला दोष का भागी नहीं है। हे प्रिये ! मत्स्य-मांस, सुरा प्रभृति मादक वस्तुओं का सेवन पूजा-काल के अतिरिक्त अन्य समय में करना दोष माना गया है। मन्त्र के अर्थ का स्फुरण, मन के स्थैर्य तथा संसार-बन्धन की निवृत्ति के ही अर्थ मद्य-पान करे। आवरण-पूजा, गुरु-तर्पण और बटुकादिक का पूजन किए बिना व्यर्थ मद्य-पान करनेवाला यद्यपि वीर भी हो, तो भी देवता के शाप को प्राप्त होता है। जिसका वाम-मार्ग में दीक्षा-संस्कार न हुआ, वह चाहे ब्रह्म-निष्ठ ही क्यों न हो पञ्च-मकार का सेवन करने से निन्दा को प्राप्त होता है।" उल्लास ५,/श्लोक ४५, ४६, ५४, ७६, ८२, ८४, ८७, ८९, ९२, १०५।

**असंस्कृता सुरा पाप-कलह-व्याधि-दुःखदा।**
**आयुः-श्री-कीर्ति-सौभाग्य-धन-धान्य-विनाशिनी॥**
**तस्मात् संस्कृत्य विधि-वत्, कुल-द्रव्यं ततोऽर्चयेत्।**
**अन्यथा नरकं याति, दाता भोक्ता न संशयः॥**

"बिना मन्त्रों द्वारा संस्कृत की गई सुरा कलह तथा व्याधि उत्पन्न करनेवाली तथा आयु, श्री, कीर्ति, सौभाग्य, धन, धान्य का विनाश करनेवाली है। इसलिए विधि-पूर्वक मन्त्रों से मद्य का संस्कार कर अर्चन करे (तब पीवे), अन्यथा दाता तथा भोक्ता दोनों ही नरक जाते हैं, इसमें संशय नहीं।" कुलार्णव, उल्लास ६/श्लोक ३१, ३२।

**स्व-शक्ति वीर-शक्ति वा, दीक्षितां कुल-मार्गतः।**
**पाययित्वा चरेत् पानमिति शास्त्रस्य निश्चयः॥**
**अदीक्षितां स्त्रियं कुर्यात्, सद्यः संस्कारमम्बिके !**
**मन्त्र - दीक्षा - विधानेन, कर्तव्यं कुल-नायिके॥**
**निमंन्त्रं न पिवेन्मद्यं, प्रायश्चित्तं विधीयते।**
**तस्मान्मन्त्र - विधानेन, शुद्धा भवति नान्यथा॥**
**भोजनान्ते विषं मद्यं, पानान्ते भोजनं विषम्।**
**अमृतं तद् विजानीयाद्, यदन्नं सुरया सह॥**
**चर्वणेन युतं पानं, अमृतं कथितं प्रिये !**
**चर्वणेन बिना पानं, केवलं विष - भक्षणम्॥**

**दृष्टि - मानस-वाक्काये, यावन्नो भवति भ्रमः ।**
**तावत् पानं प्रकुर्वीत, पशु - पानमतः - परम् ।।**
**यावन्नेन्द्रिय - वैकल्यं यावन्नो मुख - वैकृतिः ।**
**तावदेव पिबेन्मद्यमन्यथा पतनं भवेत् ।।**

'शास्त्र की यह आज्ञा है कि अपनी स्त्री अथवा वीर-शक्ति को, जो 'कुल-मार्ग' में दीक्षित हो, पहले मद्य-पान कराए तब स्वयं पीवे। यदि अदीक्षिता स्त्री हो, तो उसका सद्यः दीक्षा-संस्कार कर लेवे। विना मन्त्र-दीक्षा प्राप्त किए स्त्री शुद्ध नहीं होती। बिना मन्त्र के मद्य-पान न करे, ऐसा करने से प्रायश्चित्त करना पड़ता है। भोजन के बाद मद्य-पान तथा मद्य-पान के बाद भोजन करना विष है। भोजन के साथ-ही-साथ मद्य-पान अमृत है। चर्वण के साथ पान अमृत है और चर्वण के बिना केवल मद्य-ही-मद्य पीना विष है। दृष्टि, मन, वाणी तथा शरीर में जब तक विभ्रम नहीं होता, तभी तक मद्य पीना चाहिए। इससे आगे पीना पशु-पान है। जब तक इन्द्रियाँ विह्वल नहीं हुई, जब तक मुख विकृत नहीं हुआ, तभी तक मद्य पीना चाहिए। जो इससे अन्यथा आचरण करता है, उसका पतन होता है।'
कुलार्णव, उल्लास ७ श्लोक ३७, ३८, ७३, ९३, ९४, ९७, ९८।

**अदीक्षितैरनाचारैरतन्त्रज्ञैरदैवतैः—**
**दूषकैः समय - भ्रष्टैर्न कुर्याद् द्रव्य - सङ्गतिम् ।।**
**स्त्री - द्विष्टैर्गुरुभिः शप्तैर्भक्ति - हीनैर्दुरात्मनि ।**
**कुलोपदेश - हीनैश्च, न कुर्याद् द्रव्य-संगतिम् ।।**
**स्त्री-पुत्र-मित्र-बन्धूनां, स्निग्धानामपि पार्वति !**
**कुलाचारानभिज्ञानां, सङ्गतिं वर्जयेत् प्रिये ।।**
**कामुको न स्वियं गच्छेद्, यदीच्छन्तीमदीक्षिताम् ।**
**सद्यः संस्कार-संशुद्धां, विहितत्वात् स्वियं व्रजेत् ।।**

'दीक्षा-विहीन, सदाचार-विहीन, तन्त्र-शास्त्र से अनभिज्ञ, देवता पर भक्ति न रखनेवाले, पर-निन्दा करनेवाले, समय-भ्रष्ट व्यक्ति के सङ्ग में 'कुल-द्रव्य' का सेवन न करे। स्त्रियों से द्वेष करनेवाले अथवा स्त्रियाँ जिससे द्वेष करती हों, गुरु-जनों से शप्त, भक्ति-हीन, दुरात्मा तथा कुलोपदेश से हीन व्यक्ति के सङ्ग में कुल-द्रव्य का सेवन न करे। अपने स्त्री-पुत्र, मित्र, बन्धु चाहे परम-स्नेही भी हों, यदि कुलाचार से

अनभिज्ञ हों, तो उनके सङ्ग कुल-द्रव्य का सेवन न करे। अदीक्षि स्त्री के साथ कभी सम्भोग न करे, चाहे उसकी इच्छा भी हो। सद्य संस्कार से शुद्ध स्त्री के साथ सम्भोग करना विहित है।' कुलार्णव उल्लास ८—श्लोक ८, १०, १३, ११०।

**मद्यं मांसं च मत्स्यं च, मुद्रा मैथुनमेव च।**
**मकार-पञ्चकं देवि ! देवता - प्रीति-कारकम् ॥**
**मादि - पञ्चकमीशानि ! देवता-प्रीतये सुधीः।**
**यथा - विधि निषेवेत, तृष्णया चेत् स पातकी ॥**

'मद्य, मांस, मीन, मुद्रा तथा मैथुन—ये 'पञ्च-मकार' देवता-प्रीति कारक हैं। इन पञ्च-मकारों को विद्वान् लोग देवता-प्रीति के लिए सेवन करते हैं। जो इनका तृष्णा के कारण सेवन करता है, वह पापी है।' कुलार्णव, उल्लास १०—श्लोक ५-६।

**बिना मन्त्रेण या पूजा, बिना मांसेन तर्पणम्।**
**बिना शक्त्या तु यत्पानं, निष्फलं कथितं प्रिये ॥**
**अस्नात्वा वाप्यभक्त्या वा, लोभाद्वापि कुलेश्वरि !**
**यः सेवेत कुल - द्रव्यं, सदाऽविद्यामवाप्नुयात् ॥**
**उष्णीषी कञ्चुकी नग्नो, मुक्त-केशो गणावृतः।**
**व्यग्रो रुष्टो विवादी च, न सेवेत कुलामृतम् ॥**
**नाभिषेको न मन्त्रो वा, न शास्त्र-पठनादिकम्।**
**कारणं कुल - धर्मस्य, सदाचारः कुलेश्वरि ॥**
**संस्कारणेन विहीनत्वात्, गुरु-वाक्यस्य लंघनात्।**
**आचार-वर्ज्जनाद् देवि ! कौलिकः पतितो भवेत् ॥**
**बहुनाऽत्र किमुक्तेन रहस्यं शृणु पार्वति !**
**वर्णाश्रमाणां सर्वेषां, आचारः सद्-गति - प्रदः ॥**

'बिना मन्त्र के पूजा, बिना मांस के तर्पण तथा बिना शक्ति (स्त्री)-संसर्ग के मद्य-पान निष्फल कहा गया है। बिना स्नान किए, अभक्ति से अथवा लोभ से जो कुल-द्रव्य (मद्य) का सेवन करता है, वह सदा अविद्या को प्राप्त करता है। जिसने उष्णीष या कञ्चुक पहन रखी हो या जो नग्न हो, जो जन-समुदाय से घिरा हुआ हो, जो व्यग्र हो, जो क्रोध में हो, जिसकी झगड़ा करने की आदत हो, वह कुलामृत का सेवन न करे। हे कुलेश्वरि ! अभिषेक, मन्त्र अथवा शास्त्रों का

स्वाध्याय कुल-धर्म (वीराचार) के लिए उतना आवश्यक नहीं है, जितना सदाचार है। संस्कार-विहीन होने से, गुरु-वाक्य का अतिक्रमण करने से तथा सदाचार-विहीन होने से कौलिक पतित होता है। हे पार्वति! बहुत क्या कहना है, रहस्य यह है कि वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार आचरण सबको सद्-गति प्रदान करनेवाला है।" कुलार्णव, उल्लास ११—श्लोक १०, १७, १८, ६८, १०१, १०७।

**मादकं वस्तु-सकलं, वर्जयेत् कनकादिकम्**.....

'कनकादिक सभी मादक वस्तुओं का वर्जन करे'—ज्ञानार्णव, २२ पटल—श्लोक २५।

**परान्नं च पर-द्रव्यं, तथैव तु परिग्रहम्।**
**पर-स्त्रीं पर-निन्दां च, मनसाऽपि विवर्जयेत्॥**
**जिह्वा दग्धा परान्नेन, करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।**
**मनो दग्धं पर-स्त्रीभिः, कथं सिद्धिर्वरानने ?॥**

'परान्न, पर-द्रव्य, प्रतिग्रह, पर-स्त्री, पर-निन्दा—इनको मन में भी न लाए। परान्न से जिह्वा दग्ध, हाथ प्रतिग्रह से दग्ध, मन पर-स्त्री से दग्ध होने पर कैसे सिद्धि मिल सकती है?' (शक्ति-सङ्गम, काली-खण्ड, पटल ३/१०१, १०२)।

**सदा पञ्च-मकारैश्च, पूजयेत् कालिकाऽम्बिकाम्।**
**शक्तिं बिना नहि जपेन्न शक्तिः कारणं बिना॥**

'कालिका का पूजन सर्वदा 'पञ्च-मकार' से करे, शक्ति के सङ्ग बिना जप न करे और बिना कारण (मद्य) के शक्ति (स्त्री) का सङ्ग न करे।' (शक्ति-सङ्गम, तारा-खण्ड/६-६)

**दीक्षितां देवता-भक्तां, घृणा-लज्जा-विवर्जिताम्।**
**जपासक्तां समासाद्य, सर्वं संसाधयेच्छिवे!॥**

'दीक्षिता' और देवता में भक्ति रखनेवाली, घृणा-लज्जादिक पाशों से जो मुक्त हो गई है, मन्त्र-जप में लगी हुई स्त्री को प्राप्त कर उसके सङ्ग से सर्व-साधनाएँ करे।' (शक्ति-सङ्गम, तारा-खण्ड/१३-१११)

**तरुणीं सुन्दरीं रम्यां, चञ्चलां काम-लोलुपाम्।**
**गुरु-भक्तां मन्त्र-युक्तां, सर्व-लक्षण-संयुताम्॥**
**ईदृग्-विधां समानीय, प्रसून-तूलिकोपरि.....।**

'तरुणी, सुन्दरी, रमणीय, चञ्चल, काम-लोलुपा, गुरु-भक्ता, मन्त्र दीक्षा-युक्त, सभी उत्तम लक्षणों से युक्त स्त्री को लाकर पुष्प-शय्या साधना करे।' शक्ति-सङ्गम, तारा-खण्ड/१४-११-१२।

**गुरु-भक्तां जपासक्तां, महा - काम - कुतूहलाम् ।**
**दर्शनान्मोहिनीं साध्वीं, कटाक्षादि-प्रमोचनीम् ।।**
**विकार - परिवर्जितां, नायिकाऽष्ट-तुल्य-युक्तां ।**
**क्रोध - मात्सर्य - वर्जिताम्..... ।।**
**सर्व-दोष-विहीना या, सा शक्तिः परिकीर्तिता ।।**

'साधना के लिए उत्तम शक्ति (स्त्री) वह है, जो गुरु-भक्त, जप सक्त, महा-काम-कुतूहल से युक्त, सुन्दरी, साध्वी, कटाक्षादि निक्षे करनेवाली, विकार-रहित कुल-नायिकाष्टक में से कोई, क्रोध-मात्स र्यादि षड्-रिपुओं से रहित, सर्व-दोषों से विहीन हो।' शक्ति-सङ्ग तारा-खण्ड/१५-५, ११, १२।

**आत्मार्थं वा परार्थं वा, पशून् हत्वा पशुर्भवेत् ।**
**यावन्ति तस्य रोमाणि, तावद् योनिमवाप्नुयात् ।।**

'अपने लिए या किसी दूसरे के लिए भी पशु-घात करनेवाला प ही होता है और जितने उस (पशु) के रोम हैं, उतनी योनियों त वह पशु ही रहता है।' (शक्ति-सङ्गम, तारा-खण्ड/२१-५१)।

**आसक्त - लोलुपो दम्भी, मन्त्रार्थे त्वप्रसङ्गतः ।**
**कामुकः काम - निर्देशः, पशु - पानं तदुच्यते ।।**
**सर्वैः कुलीनैः स्थित्वा तु, बिना पूजां सुगर्वितैः ।**
**यत् पानं क्रियते देवि ! पशु - पानं तदुच्यते ।।**
**एकाकी मद्य-पानी यः, एकाकी शक्ति-भुक् प्रिये !**
**माहेश्वरस्य संसर्गं, न कदापि करोति चेत् ।।**
**पशु-पानमिदं प्रोक्तं, महा-दारिद्र्य - दायकम् ।**
**बिना मन्त्रं बिना-दीक्षां, बिना गुरु-मुखात् प्रिये ! ।।**
**यत् पानं क्रियते मूर्खैः, पशु - पानं विदुर्बुधाः ।**

'संसार पर आसक्ति रखनेवाला, लोलुप, दम्भी, बिना प्रसङ्ग मन्त्रार्थ को प्रकट करनेवाला, कामुक, काम-चेष्टा करनेवाल कौलिकों के सामने बिना पूजा किए गर्वित होकर पान करनेवाल

एकाकी (बिना चक्र-सम्मेलन के) मद्य तथा स्त्री का सेवन करनेवाला, जो पाशुपतों का कभी संसर्ग नहीं करता, बिना मन्त्र, बिना दीक्षा-युक्त, बिना गुरु की आज्ञा लिए, जो मनुष्य मद्य पीता है, वह पशु-पान करता है। ऐसा मद्य-पान महा-दारिद्र्य-दायक है।' (शक्ति-सङ्गम, तारा-खण्ड/३३–१०, ११,१२, १३, १४)।

नारीं निरीक्ष्य यत्नेन, अविकारी नरो यदि।
विकारे जायमाने तु, साधको नश्यति ध्रुवम्॥
अदीक्षित-कुल-सङ्गात्, सिद्धि - हानिः प्रजायते।
ब्रत्-तथा श्रवणं चेत् स्यात्, तत् तल्प-गमनं यदि॥
स कुलीनः कथं देवि! स कथं मम पूजकः?
पर-योषाऽधिका ज्ञेया, निज-स्त्री प्रीति-वर्द्धिनी॥

'स्त्री को देखकर मनुष्य हृदय में विकार न पैदा होने दे। यदि साधक के हृदय में स्त्री को देखकर विकार उत्पन्न हो, तो साधक का अवश्यमेव नाश होता है। अदीक्षित कुल-वाली (अथवा जो कुल-मार्ग में दीक्षित न हो) स्त्री के साथ सम्भोग करने से सिद्धि-हानि होती है। ऐसी स्त्री के साथ वार्त्तालाप और सम्भोग करनेवाला कैसे कुलीन और मेरा पूजक है? प्रीति को बढ़ानेवाली स्व-स्त्री को पर-स्त्री से उत्तम जाने।'(शक्ति-सङ्गम, तारा-खण्ड ३५—५, १७, १८, १९)।

निशा - पूजा प्रकर्त्तव्या, हेतु - युक्तः सदैव हि॥
निजं कुलं समादाय, स्वयं भैरव-रूप - धृक्।
कुलं च भैरवी-रूपं, तद्-गात्रे न्यास-विस्तरम्॥
कुलं शक्तिः समाख्याता, तस्याः पूजादि कथ्यते।
स्त्री-द्वेषो नैव कर्त्तव्यो, विशेषात् पूजनं स्त्रियः॥
स्त्रियं गच्छन् स्पृशन् पश्यन्, विशेषात् कुलजां शुभाम्।
नारीं सम्पूजयेन्नित्यमुपभोगं न कारयेत्॥

'रात्रि-पूजा सर्वथा मद्य-युक्त करे और अपनी कुल-दीक्षा-युक्त स्त्री को लावे तथा स्वयं भैरव-रूप धारण कर उसके सारे शरीर में न्यास करे। स्त्री ही 'कुल' है। उसकी पूजा करनी चाहिए। स्त्रियों से द्वेष न करे। पहले सभी स्त्रियों और विशेष-रीत्या 'कुल-मार्ग' की स्त्री का पूजन करे। स्त्री का यत्न-पूर्वक पूजन करे, उपभोग न करे।' (शक्ति-सङ्गम, तारा-खण्ड, ३६—९, २, १८, ५२।

विना पूजां स्त्रियं योनौ, सङ्गमे साधकोत्तमः ।।
सप्त - जन्म - दरिद्रत्वं, नरके कोटि-कल्पशः ।
ब्रह्म - हत्या सुरा - पानं, स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।।
एतत्-पाप - कृतो दोषो, जायते नात्र संशयः ।
वीरो वाऽप्यथवा दिव्यो, न बुद्धो नरकं व्रजेत् ।।

'बिना पूजन किए स्त्रियों से सम्भोग करनेवाला सात जन्म दरिद्र रहता है और करोड़ कल्प-पर्यन्त नरक में पड़ा रहता है । ब्र हत्या, सुरा-पान, स्वर्ण-स्तेय, गुरु-तल्प-गमन का पाप उसे लगत जो बिना पूजा के सम्भोग करता है । चाहे वह वीर हो—चाहे दि इस कार्य की अवहेलना करने से नरक जाता है ।' शक्ति-सङ्गम, ता खण्ड/१, २, ३ ।

पुरश्चरण - काले तु, पर - योषां प्रपूजयेत् ।
दीक्षितां वस्त्राभूषणैः, भोज्यैः पायस-सम्भवैः ।।
ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या, शूद्रा च कुल-सम्भवा ।
वेश्या नापित-कन्या च, रजकी नटकी तथा ।।
विशेष-वैदग्ध्य - युताः, सर्वा एव कुलाङ्गनाः ।।
अर्थाद् वा कामतो वापि, सौख्यादपि च यो नरः ।
लिङ्ग-योनि-रतो मन्त्री, रौरवं नरकं व्रजेत् ।।

'वीर को पुरश्चरण-काल में पर-स्त्री का यथा-शक्ति वस्त्र-भूष पायसन्नादि से पूजन करना चाहिए । वे ब्राह्मणी, क्षत्राणी, वैश्य शूद्रा (जो कुल की भूषण हों), वेश्या, नापित-कन्या, रजकी त नटकी हों, कारण कि ये सब कुलाङ्गना कहलाती हैं'—विद्यार श्वास १७ । 'अर्थ से, काम से अथवा आत्म-सुख के लिए जो साध सम्भोग-रत होता है, वह रौरव नरक में पड़ता है ।'—विद्याणं श्वास १८ ।

उपर्युक्त उद्धरणों को देखने से निम्न-लिखित बातें सि होती हैं—

१—'वीराचार' के अनुसार 'पञ्च-मकार' का सेवन केवल पू ही में हो सकता है और वह भी इष्ट-देवता के ध्यान के लिए ह विषय-भोग के लिए कदापि नहीं ।

२—जो स्त्री 'कुल-मार्ग' में दीक्षिता नहीं है और 'कुल-मार्ग' को नहीं जानती, उसके साथ सम्भोग करना पाप है, चाहे वह अपनी वैदिक विधि से विवाहिता स्त्री ही क्यों न हो।

३—जो 'कुलाचार' में दीक्षित न हों, चाहे वे परम स्नेही हों, उनके सङ्ग मद्य-मांस का सेवन पाप है।

अब विज्ञ पाठक ही विचार करें कि 'वीराचार' में मद्य, मांस, मैथुन प्रभृति का सेवन संसार के अन्य तमाम आचारों की तुलना में कठिन है कि नहीं? जब उपर्युक्त लम्बे-चौड़े खटराग को कर सके, तभी 'पञ्च-मकार' का सेवन करना उसके लिए सम्भव है। जन-साधारण बिना जाने-बूझे वीरों की निन्दा करते देखे गए हैं, परन्तु अज्ञता के कारण वे यह नहीं समझते कि मद्य-मांस, मैथुनादिक से बचने के लिए एक-मात्र शरण 'वाम-मार्ग' ही है।

अब तक तो केवल 'वीराचार' और अन्य आचारों की परस्पर तुलना कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि 'पञ्च-मकार' का सेवन किसी-न-किसी प्रकार से सभी धर्मों तथा आचारों में होता है और इनके सेवन के सम्बन्ध में केवल 'वाम-मार्ग' ही लाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता, बल्कि यथार्थ में 'वाम-मार्ग' ही ऐसा मार्ग है, जिसके अनुसार चलने से 'पञ्च-मकार'-सेवन बिल्कुल ही छूट सकता है, परन्तु असली विषय तो यह है कि इन मकारों का प्रयोग किस प्रकार साधक को अष्ट-पाश-विमुक्त करता है?

शास्त्रों के कथनानुसार मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य है 'मोक्ष'। मोक्ष का अर्थ है जीव का संसार के जन्म-मरण, गर्भ-वास के बन्धन से छूट कर परमात्मा को प्राप्त होना। प्रत्येक धर्माचार्य ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के साधन बताए हैं, परन्तु सर्व-मान्य मत यह है कि जब तक आप में देहाभिमान है, तब तक आपको मुक्ति नहीं मिल सकती।

यह पहले बताया जा चुका है कि जीव अष्ट-पाशों के बन्धन के ही कारण प्रपञ्च (संसार) में लिप्त है, अन्यथा यह जीव ही स्वयं परमात्मा है। कुलार्णव, नवमोल्लास, श्लोक ४२ में कहा है—

**जीवः शिवः शिवो जीवः, स जीवः केवलः शिवः।**
**पाश-बद्धः स्मृतो जीवः, पाश-मुक्तस्सदाशिवः॥**

अर्थात्—'जीव शिव है, शिव ही जीव है। वह जीव केवल
है, भिन्न नहीं। एक वही, जब पाश-बद्ध रहता है, तो जीव कहल
है और पाश-मुक्त होने पर सदा-शिव।'

श्रीमद्-भगवद्-गीता में भगवान् ने कहा है—

**'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्म-मायया'**—गीता, ४/६

अर्थात्—'मैं अपनी माया का अधिष्ठान कर अपनी माया से सं
में उत्पन्न होता हूँ।'

**'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्व-भूताशय-स्थितः'**—गीता, १०/२०

अर्थात्—'हे अर्जुन ! सब प्राणियों में आत्मा (जीव) रूप से मै
स्थित हूँ।'

**'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि, भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।**
**कारणं गुण-सङ्गोऽस्य, सदसद्-योनि-जन्मसु ॥'** गीता १३/

अर्थात्—'पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति-ज
गुणों का भोग करता है। इस (जीव) का भली-बुरी योनियों में ब
बर जन्म लेने का कारण सङ्ग (अष्ट-पाशों का बन्धन) है।'

श्रीमद्-भागवत में कहा है—

**'स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्म-मायया, सदसद्-रूपया चासौ गु**
**मय्याऽगुणो विभुः ॥३०॥ असौ गुण-मयैर्भावैर्भूत-सूक्ष्मेन्द्रियात्मभि**
**स्व - निर्मितेषु निर्विष्टो भुंक्ते भूतेषु तद् - गुणान् ॥ ३३**
स्कन्ध १/ अ० ३

अर्थात्—'भगवान् स्वयं निर्गुण होने पर भी सदसद्-रूपि
गुण-मयी, अपनी माया से संसार का सृजन करते हैं और फिर
माया के विलास-रूप गुणों में स्वयमेव प्रविष्ट होकर उस स्व-नि
संसार के प्राणियों के शरीरों में स्थित होकर उस माया के गुणों
भोग करते हैं।'

इन अष्ट - पाशों में बँधा होने के कारण जीव अप
शिवत्व भूल गया है और नश्वर पाञ्च-भौतिक शरीर में ही आ
मान कर रहा है। इसलिए नाना प्रकार की आधि-व्याधियों
बार-बार जन्म लेकर, वह भिन्न-भिन्न योनियों में भोग रहा है।

संसार का प्रत्येक मनुष्य भले प्रकार समझता है कि यह घृ
लज्जादिक अष्ट-पाशों का बन्धन, यह देहाभिमान, इस अनित्य प्र

पर आसक्ति उसको अपने चरम उद्देश्य तक पहुँचने नहीं देते; और इनको छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु समझने पर भी इनको छोड़ नहीं सकता। कहा है—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्।
व्यापारैर्बहु-कार्य-भार-गुरुभिः कालो न विज्ञायते॥
दृष्ट्वा जन्म-जरा-विपत्ति-मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते।
पीत्वा मोह-मयीं प्रमाद-मदिरामुन्मत्त-भूतं जगत्॥

अर्थात्—'सूर्य के उदय-अस्त के साथ दिन-दिन जीवन क्षीण हो रहा है। बहुत गुरुतर कार्य-व्यवहारों के भार के कारण समय का कुछ ज्ञान नहीं होता। जन्म, जरा, व्यसन, मरणादिक को नित्य देख रहे हैं, परन्तु इससे कोई भय नहीं लगता। यह सारा जगत् प्रमाद की मोह-मयी मदिरा को पीकर उन्मत्त हो गया है।'

कबीर कहते हैं—

आज होरी मैं कहा सँग खेलूं, दुविधा धूम मचाय रही है!
पाँच पचीसन फाग रच्यो है, ममता रङ्ग बनाय रही है॥
कनक-कटोरा विषय-रस भर-भर, तृष्णा मन को लुभाय रही है!
करके सिङ्गार कुमति बैठी है, भरम घुँगरू बजाय रही है॥
मताय-मताय किए बस अपने, मैं-मैं रागिन छाय रही है!
जान-बूझकर सुनो भाई साधो! सन्त-जना ने पीठ दई है।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो! हमरी तो ऐसहि बीत गई है॥

अच्छा, यह तो जान लिया कि ममता, देहाभिमान, संसार की आसक्ति—ये सब बुरे हैं और कैवल्य-लाभ के अर्थ इनका छोड़ना आवश्यक है, परन्तु इनको छोड़ा कैसे जाय? शास्त्रों का उत्तर है—'साधना' करो।

यह पहले बताया जा चुका है कि शनैः शनैः क्रमानुसार 'साधना' करने से ही 'सिद्धि-लाभ' होना सम्भव है। इसलिए 'साधना' का आरम्भ 'पशु-भाव' से होगा। पशु ही की तरह ममत्व-पूर्ण रहना पड़ेगा, संसार की वस्तुएँ दो प्रकार की दीखेंगी—१. 'भली' और २. 'बुरी'। ध्यान, पूजन, साधन करने के लिए एक विशिष्ट अवस्था, स्थान तथा समय की आवश्यकता होगी। स्मृत्यादिक धर्म-ग्रन्थों में कथित विधि-निषेधात्मक आचारों का पालन करना होगा। परन्तु,

ध्यान रहे ! इन सबसे मोक्ष-लाभ कभी नहीं हो सकता। व
आश्चर्य नहीं, इन विधि-निषेधात्मक आचारों तथा 'अष्ट-पाश
फेर में पड़े रहने से धीरे-धीरे साधक का स्वभाव ही वैसा हो
जिसको बदलना पीछे अत्यन्त कठिन हो सकता है। अंग्रेज
कहावत है—'हैविट इज़ सेकेण्ड नेचर' अर्थात् आदत (अभ्यास)
प्रकार की प्रकृति है। नीति का वचन है—

**अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि तिष्ठति।**

अर्थात्—मनुष्य के सभी गुणों का अतिक्रमण कर उसकी अ
(अभ्यास, स्वभाव) उसके ऊपर प्रबल रहती है। तात्पर्य यह है
कितना ही गुणवान् व्यक्ति क्यों न हो, यदि उसे किसी प्रकार
कुचेष्टा करने की आदत या अभ्यास पड़ गया है, तो उस अभ
अथवा आदत के कारण उसके सभी सद्गुण दब जाते हैं।

साधक को नित्य स्नान कर एक विशिष्ट स्थान पर, उसको
कर, उपासना करने का अभ्यास हो गया है, परन्तु कभी ऐसा स
आ गया कि उससे स्नान न हो सका या उस स्थान-विशेष में
किसी प्रतिबन्ध-वश न जा सका या उस स्थान की ठीक प्र
सफाई न हो सकी, बस, इतना ही होने पर उसकी उपासना रह
उसका मन क्षुब्ध हो उठा ! वह बैठकर सन्ध्योपासन कर रहा
इतने में उसका एक मित्र आ पहुँचा। उस मित्र ने मद्य-पान
रक्खा है; उसके कपड़े अस्त-व्यस्त तथा कै व दस्त से भरे हैं, दु
आती है, मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। उसको देखकर साधक
मन घृणा से भर जाना स्वाभाविक है। उसको उक्त मद्यप से श
तथा भय बना रहेगा कि कहीं वह उसको या उसकी पूजा-सा
को छूकर अपवित्र न कर डाले। उसको लज्जित भी होना पड़
जब उसके समाज के लोग यह जानेंगे कि उक्त मद्यप के साथ उस
मैत्री है। वह साधक उस मद्यप की पीठ पीछे निन्दा भी करेगा
अपने को उससे बहुत उच्च तथा उन्नत समझेगा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि वह अपने आपको, अपने सिद्धान्त
और अपने कर्म को अच्छा समझता है और उस मद्यप को, उ
सिद्धान्त तथा कर्म को बुरा। साधक में जब तक अच्छा-बुरा सम
की भावना बनी हुई है, तब तक उसमें द्वैत-भाव बना है। उस

प्रत्येक वस्तु में विश्वात्मा का दर्शन नहीं हुआ है। उसके हृदय में किसी वस्तु के प्रति प्रेम और किसी के प्रति घृणा है। वह अष्ट-पाशों से बद्ध है। उसका देहाभिमान गलित नहीं हुआ है। इससे छुटकारा पाने के लिए उसे 'पशु-भाव' की साधना छोड़नी पड़ेगी। अगर वह 'पशु-भाव' की साधना नहीं छोड़ेगा, तो धीरे-धीरे 'पशु-भाव' की साधना उसका स्वभाव बन जाएगा और उसमें व्यतिक्रम होने से उसे क्षोभ होगा और उसकी साधना भी सफल न होगी। सारांश यह कि साधना ऐसी होनी चाहिए, जो भेद-भाव को मिटा दे। 'वीर-भाव' की साधना से ही भेद-भाव मिट सकना सम्भव है।

वीर-भाव की साधना का एकमात्र आधार यही है कि साधक अपने आप में और अपने इष्ट-देव में कोई भेद ही न समझे—

**अहं देवो न चान्योऽस्मि, ब्रह्मैवाहं न शोक-भाक्।**
**सच्चिदानन्द - रूपोऽहं, नित्य-मुक्त - स्वभाव-वान्॥**

शाक्तों का साधन-मार्ग केवल 'वीर-भाव' ही है। शाक्त के लिए 'अहम्' के अतिरिक्त, सच पूछा जाय, तो कोई मन्त्र ही नहीं है। शाक्त-धर्म का मूल-स्रोत ऋग्वेद का 'देवी-सूक्त' है। इसके आठों मन्त्रों में 'अहम्' या 'मैं' का ही प्रयोग है और सारे वैदिक साहित्य में 'अहम्' के प्रयोगवाले ( जहाँ तक लेखक को विदित हुआ ) यही मन्त्र हैं। 'शक्ति-वाद' और 'वीर-भाव' की साधना के इस मूल सिद्धान्त को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शाक्त-साधना का एकमात्र लक्ष्य शिव तथा जीव का ऐक्य प्राप्त करना है। महात्मा कबीर तथा मध्य-कालीन अन्य सन्तों का भी यही लक्ष्य था। कबीर ने एक स्थल पर कहा है—

**तूँ-तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।**
**वारी तेरे नाम पर, जित देखूँ तित तूँ॥**

इसी प्रकार किसी सन्त ने कहा है—

**दर दिवार दरपन भए, जित देखूँ तित तोय।**
**काँकर - पाथर - ठीकरी, रही आरसी होय॥**

तदाकार-वृत्ति की पराकाष्ठा हो गई! अपना मुख भी अपना मुख न रहा!! इसी तदाकार-वृत्ति का दिग्दर्शन शृङ्गारी कवि

बिहारी ने नायिका की अपने प्रेमी के प्रति तन्मयता में क
है। यथा—

**प्रतिबिम्बित आदर्श पुनि, मुकुर स्व-कर तिय लेत।**
**पिय - मूरति नैननि निरखि, फेरि डारि तेहि देत॥**

नायिका दर्पण उठाती है अपनी सूरत देखने को, वहाँ दीख
अपने प्रियतम की मूर्ति! तात्पर्य यह है कि तादात्म्य-भाव
प्रबल होना चाहिए कि स्वयं 'मैं' तथा अपने इष्ट-देव में कोई भे
न रह जाय। इसी तदाकार-वृत्ति को येन-केन-प्रकारेण प्राप्त
'वीर-भाव' का चरम लक्ष्य है।

कुलार्णव, नवमोल्लास में लिखा है—

**देहो देवालयो देवि! जीवो देवः सदा - शिवः।**
**त्यजेदज्ञान - निर्माल्यं, सोऽहं - भावेन पूजयेत्॥४१**

अर्थात्—'हे देवि! यह देह देवालय है और सदा-शिव पर
इसमें जीव-भाव से विराजमान है। अज्ञान-रूप निर्माल्य को दू
'सोहं-भाव' से इसकी पूजा करनी चाहिए।' महात्मा सुन्दर
कहा है—

**देह जड़ देवल में आतमा चैतन्य देव,**
**याही को समुझि कै यासों मन लाइए।**
**देवल के विनसत बार नहीं लागे कछु,**
**देव तो अभङ्ग सदा देवल में पाइए॥**
**देव की भगति करि देवल की पूजा होय,**
**भोजन विविध भाँति भोगहू लगाइए।**
**देवल तें न्यारो देव देवल में देखियत,**
**'सुन्दर' विराजमान और कहाँ जाइए॥**

इस 'सोहं'-भाव के पूजन के लिए संसार को भूलना आ
है। इसके लिए मन पर दबाव डालना पड़ेगा, परन्तु मन
पञ्च-भूतों के वश में होने से कोरे दबाव से नहीं भूलता।
इसमें किसी पार्थिव वस्तु के प्रयोग से परिवर्तन करना
विद्वानों ने देखा कि मादक वस्तु में वह शक्ति है, जिससे मनुष्य
विस्मृत हो जाता है। मादक वस्तुओं में सर्वोत्तम 'मद्य' है

गया, कारण कि 'मद्य' अन्य मादक वस्तुओं की भाँति मनुष्य में आलस्य नहीं लाता। 'मद्य'-पान से मनुष्य आत्म-विस्मृत तो हो जाता है परन्तु उसकी क्रिया-शक्ति में बाधा नहीं पड़ती, बल्कि 'मद्य' के प्रभाव से आलसी मनुष्य भी क्रिया-शील हो उठता है। इसके साथ-साथ विद्वानों ने अनुभव से यह भी जाना कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति 'मद्य' की ओर है।

साधारण-से-साधारण गली-गली फिरनेवाले मद्यप को भी आप देखिए, वह घृणा-लज्जादिक से मुक्त रहता है। यह अवस्था यदि बिवेक और ज्ञान से पूर्ण हो, तो यही मुक्त अवस्था कहलाती है। शाक्त ऋषियों ने इन अवस्थाओं का बारीकी से अध्ययन किया और 'मद्य' को साधना की सामग्री बनाकर मनुष्य-समाज को दोहरा फायदा पहुँचाया—

(१) एक तो 'मद्य'-पान को बहुत ही नियन्त्रित कर दिया, जिससे जन-साधारण को हानि न पहुँचे।

(२) दूसरे उन साधकों को 'अष्ट-पाश'-विमुक्त होने की औषधि बता दी, जो केवल मानसिक बल के ही सहारे इन पाशों से छूटने में असमर्थ थे।

हम पहले लिख चुके हैं कि शाक्त-धर्म के अनुसार 'पञ्च-मकार' केवल उपासना की ही सामग्री है। वामाचारी उपासना के अतिरिक्त अन्य समय में इनका उपयोग नहीं कर सकता। वह उपासना करने ही के लिए 'मद्य' का प्रयोग करता है क्योंकि 'मद्य'-पान करने से वह आत्म-विस्मृत—लोक-चिन्ता-रहित हो जाता है और जिस किसी विचार अथवा वस्तु पर वह ध्यान जमाता है, उस पर उसका ध्यान केन्द्रित हो जाता है।

'मद्य' के उत्कट उत्तेजक पदार्थ होने के कारण मांस, मत्स्य, मुद्रा का इसके साथ प्रयोग किया जाता है और इसको 'चर्वण' कहते हैं। 'कुलार्णव' में कहा है—

**'चर्वणेन विना पानं केवलं विष-भक्षणम्'**

अर्थात्—विना चर्वण के मद्य पीना विष-भक्षण है।

यदि विना पौष्टिक भोजन के 'मद्य' का सेवन किया जाएगा, तो मनुष्य मर जाएगा। मत्स्य-मांस से 'मद्य' का विष शान्त होता है

और यदि उचित मात्रा में 'मद्य' के साथ मांसादि का सेवन
जाय, तो शक्ति-हीन मनुष्य भी बलवान् तथा तेजस्वी हो जात
डाक्टर लोग प्रायः रोग की निर्बलता में और विशेषतया क्षय-रो
को नियमित मात्रा में ब्राण्डी (एक प्रकार की 'मद्य') तथा अण्डे
मांस-रस का सेवन कराते हैं।

'स्त्री' का उपयोग साधना में इसलिए किया जाता है कि उप
का सबसे बड़ा विघ्न स्त्री ही है। अतएव यह आवश्यक है कि
विघ्न पर विजय प्राप्त की जाय। विघ्न से दूर रहना विघ्न
विजय प्राप्त करना नहीं है।

इसके अतिरिक्त ये 'पञ्च-मकार' प्राकृतिक धर्म के अनु
मनुष्य को प्रिय हैं। यह पिछले अध्यायों में बताया जा चुका
इसलिए इनका त्याग करना कष्ट - कारक होने से उचित नहीं
जा सकता। स्वभावतः ये वस्तुएँ मनुष्य के अनुकूल हैं और नित
व्यवहार में भी 'मद्य' को छोड़ शेष अन्य चार 'मकार' प्रकृति के
अत्यन्त आवश्यक हैं। बिना 'मैथुन' के सृष्टि - क्रम चल नहीं स
'मुद्रा' सभी का भोज्य पदार्थ है। इसी प्रकार 'मांस-मत्स्य' भी
संख्यकों का भोजन है। यह कहना यथार्थ होगा कि स्पष्ट या अस्
रूप में सारा संसार ही आमिष-भोजी है।

फिर 'पञ्च-मकारों' का त्याग क्यों किया जाय ? क्यों न प्रवृ
के अनुकूल चलते हुए इनको साधना का उपकरण बना दिया जा
जब ये वस्तुएँ परमात्मा ने ही बनाई हैं, तो इन्हें बुरा, निन्दित
त्याज्य बताकर क्या हम अपने नियन्ता का अपमान नहीं कर
क्यों न हम इन वस्तुओं को भी अन्य वस्तुओं की भाँति परमात्मा
अर्पित करें ? क्यों न अपने सारे जीवन के कार्य-क्रम को ही सा
का रूप दे दिया जाय ? कहा भी है—

**जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्रा-विरचनम्।**
**गतिः प्रादक्षिण्यं श्रमणमशनाद्याहुति - विधिः॥**
**प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पण - दशा।**
**सपर्य्या - पर्य्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥**

(सौन्दर्य-लहरी,

अर्थात्—हे मातः, जो कुछ भी मैं बोलता हूँ ( चाहे वह अनर्गल प्रलाप ही क्यों न हो), वह सब तेरे नाम का जप है। जो कुछ मेरा शिल्प (हाथों से किया हुआ कर्म—चाहे वह लौकिक दृष्टि में जघन्य-से-जघन्य पाप ही क्यों न हो ) है, वही तेरे अर्थ पूजा में प्रदर्शित विभिन्न मुद्राएँ हैं। मेरा पाद-सञ्चार सब तेरी प्रदक्षिणा है। मेरा खाना-चबाना सब तेरे नाम का होम है। मेरा लेट जाना ही तेरा प्रणाम है। मेरे सर्व शारीरिक सुख ही तेरे प्रति आत्म - निवेदन की मेरी दशा है। इस प्रकार हे माता ! इस संसार-क्षेत्र में जो कुछ मेरे कार्य-कलाप हैं, वह सब तेरी ही सपर्य्या है।

इन्हीं सब बातों को अनुभव कर प्राचीन महर्षि-गण इस निष्कर्ष पर आए कि 'वीर-भाव' की उपासना के बिना सिद्धि नहीं मिल सकती क्योंकि प्रत्यक्ष है कि संसार की प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक कार्य भावना-प्रधान है। अंग्रेजी में एक कहावत है—'संसार में कोई भी वस्तु अच्छी या बुरी नहीं है, परन्तु हमारा विचार ही उसको अच्छा या बुरा बनाता है।' ज्ञानार्णव तन्त्र के २२ वें पटल में कहा है—

धर्माधर्म - परिज्ञानात् सकलेऽपि पवित्रता।
विष्ठा-मूत्रं स्त्री-रजो वाऽपि नखास्थि-सकलं प्रिये ! ॥
विचारयेन् मन्त्र - वित् तु पवित्राण्येव सुव्रते !
अन्नं ब्रह्म विजानीयात् तेन यस्य समुद्भवः ॥
नाना - जीवाश्रयं तत्तु पुरीषं केन निन्द्यते।
नाना - विधा हि देवेशि ! देवता सलिल - स्थिताः ॥
तेनोदकेन यज्जातं मूत्रं कस्मात् तु दूषयेत्।
गो - मूत्र - प्राशनं देवि ! गोमस्यापि भक्षणम् ॥
प्रायश्चित्ते तु कथितं ब्रह्म - हत्यादिके प्रिये !
मले मूत्रे कथं दोषो भ्रान्तिरत्र न संशयः ॥
स्त्री - रजः परमेशानि ! देहस्तेनैव जायते।
कथं दूषणं येन प्राप्यते परमं पदम् ॥
पुरुषस्य तु यद् वीर्यं विन्दुरित्यभिधीयते।
बिन्दुस्तु परमेशानि ! कायोऽयं शिव - रूपकः ॥
शिव - तत्त्वेन चास्थ्यादि - दूषणं नास्ति वैन्दवे।
रेतः पवित्रं देहस्य कारणं केन निन्द्यते ॥

ज्ञान - मार्गोऽयं सकलो निर्विकल्पस्य सुन्दरि !
सविकल्पो महेशानि ! पाप - भाग् जायते नरः ।।
मातृ - गर्भाद् विनिर्गत्य शिशुरेव न संशयः ।
इन्द्रियाण्यखिलान्यस्य देहस्थान्यपि वल्लभे ! ।।
निर्विकारतया तत्र नान्यथा भवति प्रिये !
भग - लिङ्ग - समायोगो जन्म - काले सदा भवेत् ।।
काम्यते सा यदा देवि ! जायते गुरु - तल्पगः ।
अतएव यदा यस्य वासना कुत्सिता भवेत् ।।
तत्तद् - दूषणं संयुक्तमन्यत् सर्वं शुभं भवेत् ।
पवित्रं सकलं भद्रे ! वासना कलुषा स्मृता ।।

अर्थात्—धर्माधर्म का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर सभी वस्तुएँ पवि हो जाती हैं। विष्ठा, मूत्र, स्त्री-रज, नख, अस्थि - ये सब मन्त्र-वे के विचार में पवित्र हैं। 'अन्न' को सभी ब्रह्म करके जानते हैं। 'अन्न' से जो उत्पन्न हुआ है, नाना प्रकार के जीव (कृमि प्रभृ जिसमें आश्रय पाते हैं, वह 'पुरीष' क्योंकर निन्दनीय हो सकता है

हे देवेशि ! जल में नाना-विध देवताओं का निवास है, उस से 'मूत्र' पैदा हुआ है, तो 'मूत्र' क्यों दूषित बताया जाता है ? 'म मूत्र' का पान तथा 'गो-मय' का भक्षण ब्रह्म-हत्यादिक पापों के प्रा श्चित्त में बतलाया गया है। अब ऐसी दशा में 'मल-मूत्र' में क दोष ?—तात्पर्य यह कि जब गाय के 'मल-मूत्र' का सेवन मह पातकी को भी पवित्र कर सकता है, तो उसे अपवित्र मानने भ्रान्ति के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है !

हे परमेशानि ! स्त्री-रज वह वस्तु है, जिससे मनुष्य-देह उत्प होती हैं और इसी मनुष्य-देह से परम-पद की प्राप्ति होती है, फिर 'स्त्री-रज' से घृणा क्यों ? पुं-वीर्य 'विन्दु' कहलाता है अ वही 'विन्दु' यह शिव-रूपी शरीर है। इसी शरीर की अस्थि इत्यादि (सप्त धातु) हैं, जो 'विन्दु'-सम्भूत होने से शिव-तत्त्व हैं इसलिए ये दूषित हो ही नहीं सकतीं। 'रेतस्' इस देह का कार होने से निस्सन्देह पवित्र है। फिर इससे घृणा क्यों की जाती है ?

हे सुन्दरी ! यह सब जो कुछ बताया गया है, वह निर्विक साधक का ज्ञान-मार्ग है। हे महेशानि ! यदि साधक स-विकल्प

(यानी उसमें भेद-बुद्धि है), तो उपर्युक्त वस्तुओं का प्रयोग कर वह पाप का भागी होता है, जैसे शिशु जब मातृ-गर्भ से बाहर निकलता है, तब उसके सभी अवयवों का संसर्ग मातृ-योनि से होने के कारण उसका अपनी माता के साथ उस समय भग-लिङ्ग-संयोग होना स्वाभाविक है, परन्तु वह, उस समय, निर्विकार होने से पापी नहीं कहलाता। अब यदि वह (बड़ा होने पर) काम-वासना पूर्ण होकर अपनी माता के साथ कुचेष्टा करे, तो उसे गुरु-तल्प-गमन का पाप लगेगा। उस समय उसकी यह दलील नहीं चल सकती कि मैं पैदा होने पर माता की ही योनि से तो निकला हूँ और निकलते वक्त योनि-स्पर्श हुआ ही है। अतएव हे भद्रे ! दोष तभी है, जब 'वासना' कलुषित हो। सब कुछ ठीक है, केवल 'वासना' बुरी है।

उक्त 'वासना' को ही मारने के लिए 'वीर-भाव' से साधना करना आवश्यक हो जाता है। जब कोई बात आपके नित्य के कार्यों में होने लगती है, तब आपको उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। यही बात इन 'पञ्च-मकारों' पर भी लागू होती है। 'मांस-मत्स्य' रजोगुण-प्रधान भोजन है। जिसने इनका कभी सेवन नहीं किया, उसे इनका कभी-न-कभी सेवन करने से गर्मी अवश्य चढ़ेगी, परन्तु जिसका यह नित्य का भोजन है, उसकी प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता।

क्या मांसाहारी-वर्ग के मनुष्यों में सत्त्व-गुण-विशिष्ट लोग नहीं होते ? इसी प्रकार नित्य 'मद्य' पीनेवाले के नित्य के कार्यों में कोई बाधा नहीं पड़ती। कभी-न-कभी नग्न व अर्ध-नग्न स्त्री को देखने पर आपके हृदय में विकार पैदा हो सकता है, परन्तु यदि आप नित्य ऐसा देखने के आदी हो गए हैं, तो आपके हृदय में विकार नहीं उठेगा। अब इस दृष्टि से 'वीराचार' की साधना को देखिए।

'पञ्च-मकार' का नित्य प्रयोग करने से आपने इनकी असाधारणता का कम कर ही दिया। अब धीरे-धीरे इनका प्रयोग करते हुए आपने साधना भी आरम्भ कर दी और जगदम्बा के चरणों में मन लगाया। पहले 'वासना' प्रबल रहेगी ही, फिर धीरे-धीरे निर्बल होते-होते एक दिन वह पूर्ण-रीत्या नष्ट हो जाएगी।

'वीर-भाव' की साधना में साधक क्रियात्मक रूप में कर्म-प
त्याग—'अहं ब्रह्मास्मि', 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इत्यादि सिद्धान्तों
अभ्यास करता है और गीता के निम्न भगवद्-वाक्यों को प्रत्य
रूपेण सिद्ध कर बतला देता है—

मन्मना भव मद् - भक्तो मद् - याजी मां नमस्कुरु ।
सर्व - धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।।
नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्व - वित् ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ।।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।
यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय ! तत् कुरुष्व मदर्पणम् ।।

देखिए, वीराचार के पूजन में तत्त्व-शुद्धि । यथा—

"सुरा-पूरित-पात्रं वाम-करे आदाय—

'ब्रह्माण्ड - मण्डलाकारं पात्रं नौमि सुधा - मयं सुधया पूरि
साक्षादायुर्वित्तं प्रयच्छ मे । ॐ ह्रीं श्रीं भगवति, महा-लक्ष्मि ! सुर-पु
धामानमूर्ध्वं-शून्यमधः-शून्य-प्रकाशनाप्रकाश-भक्षिणि ! सोम - सूर्याग्नि
भक्षिणि ! आगच्छ, आगच्छ; विश, विश—फट्' ।

इति दक्ष-करे शुद्धि-खण्डमादाय—

'ऐं प्रकृत्यहङ्कार-बुद्धि-मनः - श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-र्जिह्वा-घ्राण - वाक्
पाणि-पाद-पायूपस्थ-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाकाश-वाय्वग्नि - सलिल
भूम्यात्मने, अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अ
आत्म-तत्त्वयात्म-तत्त्वात्मने विश्व-रूपाय विश्व-रूपात्मने सरस्वती
हिरण्य-गर्भ-सहिताय सरस्वती-हिरण्य-गर्भ - सहितात्मने आणव-मल
शुद्ध्यर्थं स्थूल-देहमाधारे आत्म-तत्त्वेन शोधयामि ।

नाभि-चैतन्य-रूपादौ हविषा मनसा स्रुचा,
ज्ञान-प्रदीपिते नित्यमक्ष-वृत्तिर्जुहोम्यहम् ।
ऐं आत्म-तत्त्वेन स्थूल-देहं शोधयामि नमः स्वाहा ।।

क्लीं माया-कला-विद्या-राग - काल - नियति - पुरुषात्मने कं···र
विद्या-तत्त्वात्मने तैजस-पुरुषाय तैजस-पुरुषात्मने लक्ष्मी-नारायण

सहिताय लक्ष्मी-नारायण-सहितात्मने कार्मिक-मल-शोधनार्थं सूक्ष्म-देहं हृदये विद्या-तत्त्वेन शोधयामि—

धर्माधर्म-हविर्दीप्ते स्वात्माग्नौ मनसा स्रुचा,
सुषुम्णा-वर्त्मना नित्यमक्ष-वृत्तिर्जुहोम्यहम् ।
क्लीं विद्या-तत्त्वेन सूक्ष्म-देहं शोधयामि नमः स्वाहा ।।

सौः शिव-शक्ति-सदा-शिवेश्वर-शुद्ध-विद्यात्मने यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं शिव-तत्त्वाय शिव-तत्त्वात्मने प्राज्ञ-पुरुषाय प्राज्ञ-पुरुषात्मने विद्या-शङ्कर-सहिताय विद्या-शङ्कर-सहितात्मने मायिक-मल-शोधनार्थं कारण-देहं शिरसि शिव-तत्त्वेन शोधयामि—

प्रकाशाकाश-हस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनी स्रुचा,
धर्माधर्म-कला-स्नेह - पूर्णमग्नौ जुहोम्यहम् ।
सौः शिव-तत्त्वेन कारण-देहं शोधयामि नमः स्वाहा ।

ऐं क्लीं सौः प्रकृत्यहङ्कारादि-षट्-त्रिंशत्-तत्त्वात्मने अं आं ..... हं ळं क्षं सर्व-तत्त्वाय सर्व-तत्त्वात्मने विश्व-तैजस-प्राज्ञ-पुरुषाय विश्व-तैजस-प्राज्ञ-पुरुषात्मने आणव-कार्मिक-मायिक-मल-शोधनार्थं स्थूल-सूक्ष्म-कारण-महा-कारण-देहं सर्वाङ्गे जीव-परमात्मनोरैक्येन शोधयाम्यमृतं जुहोमि स्वाहा—

अहन्ता पात्र-भरितमिदन्ता परमामृतम्,
परा-हन्ता-मये वह्नौ जुहोमि शिव-रूपतः ।

ऐं क्लीं सौः सर्व-तत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।

ततो मूलाधारे अनादि-वासनेन्धन-ज्वलिते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा कुण्डलिन्यधिष्ठितं चिदग्निं ध्यात्वा—

मूलं हंसः चिदग्नि-मण्डलाय नमः ।

इति मनसा सम्पूज्य—मूलं पुण्यं जुहोमि स्वाहा, पापं कृत्यमकृत्यं सङ्कल्पं धर्मं अधर्मं स्वाहा, मूलं हंसः, इतः पूर्वं प्राण-बुद्धि-देह-धर्माधिकारतो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्-सर्वं परम-शिव-गुरु-देवतायै समर्पितमस्तु स्वाहा—

अन्तर - निरन्तर - निरिन्धन - मेधमाने,
मोहान्धकार - परिपन्थिनि सम्विदग्नौ ।

**कस्मिंश्चिदद्भुत-मरीचि - विकास - भूमौ,**
**विश्वं जुहोमि वसुधादि - शिवावसानम् ।।**

उपर्युक्त तत्त्व-शुद्धि के क्रम को देखकर स्पष्ट हो जाता है
'वीराचार' की साधना का केवल मात्र उद्देश्य '**जीव-परमात्मनोरै**
है और इसी की प्राप्ति के लिए 'पञ्च-मकार' का प्रयोग पूजन
किया जाता है और यह उद्देश्य-प्राप्ति 'पञ्च-मकार' के प्रयोग
हो जाती है, इस बात पर पर्याप्त दलील की जा चुकी है। जि
किसी साधक को सन्तोष न हो, उसे चाहिए कि किसी सद्-गुरु
शरण में जाकर साधना करके देखे, तो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण भी मि
जाएगा और यथार्थ बात तो तभी समझ में आ सकती है, जब स्व
अभ्यास करके देखा जाय क्योंकि 'वाम-मार्ग' साधना का मार्ग ह
से बिना क्रियात्मक प्रयोग के समझ में आना कठिन है। इसीलि
शास्त्रों ने आज्ञा दी है कि 'वाम-मार्ग' के विषय में पशुओं के सम्मु
चर्चा नहीं करनी चाहिए।

जहाँ तक साधना का सवाल है, उसको अलग रखते हुए भी
तो मानना ही पड़ेगा कि 'वीराचार' ही एक ऐसा मार्ग है, जिस
भोग-मार्ग और मोक्ष-मार्ग को इकट्ठा करके यह सिद्ध कर दिया
कि संसार का आनन्द-भोग करते हुए भी सरलता से मोक्ष मि
सकता है—

**दर्शनेषु च सर्वेषु, चिराभ्यासेन मानवाः ।**
**मोक्षं लभन्ते कौलेषु, सद्य एव न संशयः ।।**
**योगी चेन्नैव भोगी स्याद्, भोगी चेन्नैव योग-वित् ।**
**भोग-योगात्मकं तस्मात्, सर्वाधिकं प्रिये ! ।।**
**भोगो योगायते साक्षात्, पातकं सुकृतायते ।**
**मोक्षायते च संसारः, कुल - धर्मे कुलेश्वरि ! ।।**
**कुलार्णव, २—२१, २३,**

अर्थात्—सभी शास्त्रों में तो मनुष्य बड़े लम्बे समय के अभ्य
के बाद मोक्ष लाभ करता है परन्तु 'कुल-शास्त्र' में (थोड़े ही अभ्य
से) शीघ्र ही मोक्ष मिल जाता है। योगी भोगी नहीं हो सकता अ
भोगी योग का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु 'कौल-मार्ग'
भोग और योग दोनों हैं। इसीलिए वह सर्व-श्रेष्ठ मार्ग है। 'कुल-ध

में साधना करने से सांसारिक भोग ही योग हो जाता है, धर्म-शास्त्रों में वर्णित पाप ही पुण्य हो जाता है और यह संसार और इसकी आसक्ति ही साधक के लिए मोक्ष हो जाती है।

इस प्रकार 'वीर-भाव' की साधना करने से साधक के अष्ट-पाश कट जाते हैं और उसका मन वासनाओं से मुक्त हो जाता है। फिर उसे स्थूल 'पञ्च-मकार' की आवश्यकता नहीं पड़ती और न उसे इनकी इच्छा ही होती है; साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता हुआ साधना के सर्वोच्च सोपान 'दिव्य-भाव' को प्राप्त होता है।

पिछले प्रकरणों में बताया जा चुका है कि साधना का ध्येय क्या है और उस ध्येय की प्राप्ति के अर्थ किस प्रकार आपको सीढ़ी-पर-सीढ़ी चढ़कर साधना करनी चाहिए। 'पशु-भाव' की साधना से आपने अपने शरीर को दृढ़ बना लिया, मन को एक इष्ट पर केन्द्रित कर लिया और 'वीर-भाव' की साधना से आपने भेद-भाव को मिटा डाला है। अब आपको संसार की किसी वस्तु से घृणा नहीं है; किसी से भय, लज्जा अथवा शङ्का नहीं है। आपकी जुगुप्सा नष्ट हो गई है। आपमें कुल, शील तथा जाति की भावना नहीं रह गई है। आप सम-दर्शी हो गए हैं। आपमें 'गीता' में कथित 'पण्डित' के पूरे लक्षण दीखने लगे हैं—

**विद्या-विनय-सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।**
**शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः सम - दर्शिनः॥**

आपको अब पूजोपचार में किसी भी वस्तु तथा स्थान से घृणा नहीं होती। 'कर्पूर-स्तव-राज' में लिखा है—

**समन्तादापीन-स्तन - जघन - धृग्-यौवन - वतीम्।**
**रतासक्तो नक्तं यदि जपति भक्तस्तव मनुम्॥**
**विवासास्त्वां ध्यायन् गलित-चिकुरस्तस्य वशगाः।**
**समस्ताः सिद्धौघा भुवि चिर-तरं जीवति कविः॥**

अर्थात् "हे जगदम्ब! यदि तेरा भक्त पीन-स्तन और जघनोंवाली युवती के साथ सुरतासक्त होकर मुक्त-केश दिगम्बर रहकर निशीथ-काल में तेरे मन्त्र का जप करे, तो समस्त सिद्ध-गण उसके वशीभूत हो जाते हैं और वह प्रकाण्ड पण्डित होकर चिर-काल तक जीवित रहता है।"

विचार कीजिए, कितनी उत्कृष्ट साधना है। युवती स्त्री के सा
रहते हुए अपने इष्ट-देव के मन्त्र-साधन में लगा रहना कितने जब
र्दस्त मनः-संयम का काम है। यदि आप निरन्तर अभ्यास करें, त
उपर्युक्त दुःसाध्य साधना अत्यन्त सुगम हो सकती है। बचपन में गु
मुख से एक कथा सुनी थी। उस कथा के उदाहरण से उपर्युक्त साधन
का रहस्य स्पष्ट समझ में आ जाता है। कथा इस प्रकार है—

किसी नगर का राजा बड़ा विषयी था। उसको विषय से कभ
तृप्ति नहीं होती थी। उसने अपनी उत्कट विषय-लालसा को पू
करने के निमित्त संसार के कोने-कोने से ढूँढ़-ढूँढ़कर भिन्न-भिन्न देश
जातियों तथा वर्णों की युवती स्त्रियाँ अपने पास इकट्ठी कर रख
थीं। इस काम के लिए उसने चर नियुक्त कर रक्खे थे, जिनका का
उसके लिए नित्य नई-नई सुन्दरियों को फाँस लाना था। जब त
उस राजा की जवानी रही, उसने खूब उपभोग किया। जवान
ढलने पर उसकी शक्ति क्षीण हो गई, इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, परन
शक्ति ज्यों-ज्यों क्षीण होती गई, त्यों-त्यों उसकी काम-लालसा उत्तरो
त्तर बढ़ती गई। उसने अपनी शक्ति बढ़ाने के उपचार किए, संसा
भर के वैद्यों और चिकित्सकों की औषधियों का सेवन किया। कु
काल तक उसका काम दवाइयों से चलता रहा। फिर अन्त में औ
धियों की भी कुछ न चली। आखिर औषधियाँ भी कहाँ तक का
करतीं! प्रकृति को अपना काम करना ही था।

कुछ अवस्था के कारण और कुछ अत्यन्त विषयासक्ति के कार
उसका पौरुष एकदम नष्ट हो गया, परन्तु उसकी विषय-तृष्णा त
भी नहीं मिटी। अब उसने जोगी-जङ्गमों की ढूँढ़ की—इस आशा
कि कदाचित् उसे किसी महात्मा से कोई जड़ी या कोई मन्त्र प्राप्
हो जाय, जिससे उसकी जवानी कभी क्षीण न हो। उसको जह
कहीं किसी साधु-संन्यासी या चमत्कारी पुरुष के होने का समाचा
मिलता, वह वहीं उसके पास पहुँच जाता और अपनी इच्छा-पूर्ति क
उससे प्रार्थना करता। इस प्रकार बहुत समय बीत गया, किन
कोई भी साधु-संन्यासी उसको ऐसा नहीं मिला, जो उसकी इच्छ
पूरी करता।

एक दिन उस राजा के चरों ने उसको समाचार दिया कि उसके नगर के बाहर एक निर्ज- स्थान में एक सिद्ध महात्मा ने कुछ दिनों से स्थान जमा रक्खा है। वह न कुछ खाता है, न पहनता है और न कहीं जाता है। पानी तक नहीं पीता। कई दिन से एक ही स्थान पर एक ही आसन पर बैठा है, बड़ा चमत्कारी सिद्ध ज्ञात होता है। उसके चमत्कारों से सारी जनता चकित है—इत्यादि। राजा यह सुनकर शीघ्र ही उक्त महात्मा के समीप नाना प्रकार के उपहार लेकर उपस्थित हुआ, परन्तु उस सिद्ध ने राजा तथा उसके उपहारों पर दृष्टि-पात नहीं किया। जब बहुत विलम्ब हुआ, तो राजा निराश होकर अपने महल में लौट आया। फिर दूसरे दिन और भी अधिक उपहार-सामग्री लेकर राजा उस सिद्ध के पास गया।

वहाँ जाकर देखता क्या है कि वह उपहार-सामग्री ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई है और सिद्ध अपनी उसी पहले दिनवाली निश्चिन्त मुद्रा में स्थित है। राजा यह देखकर अत्यन्त ही प्रभावित हुआ और सिद्ध के पैरों पर गिर कर फूट-फूट कर रोने लगा। राजा की इस चेष्टा से सिद्ध का ध्यान भङ्ग हुआ और उसने राजा की व्याकुलता का कारण पूछा। उत्तर में राजा का इति-वृत्त सुनकर सिद्ध मौन हो गया और जब सन्ध्या होने पर राजा अपने नगर में जाने को उद्यत हुआ, तब सिद्ध ने अपनी झोली में से तीन गोलियाँ निकालीं। दो स्वयं खाईं और राजा को एक गोली खिलाकर विदा करते हुए कहा कि 'राजन्! अपने महल में जाकर यथेच्छ उपभोग करो।'

राजा ने उस रात्रि को अपने शरीर में ऐसी स्फूर्ति पाई, जैसी उसने अपनी युवावस्था में भी नहीं पाई थी। उसने सारी रात खूब भोग-विलास किया। दूसरे दिन उसको कोई दुर्बलता या आलस्य भी नहीं हुआ। दिन भर अपना राज-कार्य कर राजा सन्ध्या-समय सिद्ध के समीप फिर उपस्थित हुआ। सिद्ध ने फिर पूर्व-वत् दो गोलियाँ स्वयं खाकर एक राजा को खिलाई और राजा ने भी पिछली रात्रि की तरह खूब आनन्दोपभोग किया। इसी प्रकार राजा का नित्य का कार्य-क्रम चलता रहा। गोलियों में आश्चर्य-मयी शक्ति थी।

इस प्रकार कुछ काल बीत जाने पर राजा के मन में जिज्ञासा उठी कि 'मैं तो एक गोली नित्य खाता हूँ, उसी में इतनी शक्ति तथा

चमत्कार का अनुभव करता हूँ। यह सिद्ध तो दो गोलियाँ नित्य ख
है। इसका क्या हाल होता होगा? इसका भी जरूर कहीं कि
स्त्री से सम्बन्ध होगा।' ऐसा सन्देह होने पर राजा ने सिद्ध के निव
स्थान के चारों तरफ गुप्त पहरा बैठा दिया। इसी प्रकार दिन
महीने बीत चले, परन्तु सिद्ध अपने स्थान से हिला तक नहीं।

अब राजा ने एक दिन स्वयं ही सिद्ध से पूछा कि 'महारा
मुझको तो एक ही गोली खाने से इतनी मस्ती आती है, परन्तु
दो गोली खाकर भी निर्विकार रहते हैं, इसका क्या रहस्य है,
बताइए।'

सिद्ध ने कहा कि 'राजन्! तुम्हें फकीरों के रहस्य जानने
क्या प्रयोजन? तुम अपनी एक गोली खाते जाओ और इच्छि
आनन्द लूटो।'

राजा ने फिर भी अपनी जिज्ञासा जारी रक्खी। सिद्ध ने रा
के बहुत आग्रह करने पर उत्तर दिया 'अच्छी बात है, समय आ
पर बता देंगे।'

सिद्ध के इस टालमटोल उत्तर को सुनकर राजा की जिज्ञासा अ
प्रबल हो उठी। अब राजा का नित्य-प्रति सिद्ध से पूछने का धन
ही हो गया। जब सिद्ध ने राजा की अत्यन्त बलवती जिज्ञासा देख
तो राजा से कहा कि 'मैं तेरी जन्म-पत्री बना कर तेरी परमायु
निर्णय करता हूँ।'

कुण्डली तैयार कर सिद्ध राजा को दिखाने के लिए झूठ-मूठ
गणना करने लगा और गणना करते-करते चौंककर उसने राजा
कहा कि 'राजन्! आपकी तो आयु पूर्ण हो गई है। आप केवल रा
भर जीवित रहेंगे! कल प्रातः सूर्योदय होते ही आपकी मृत्यु
जाएगी।'

ऐसा कहकर सिद्ध ने झोली निकालकर राजा को आठ गोलि
खिलाईं और राजा से कहा कि 'आज तुम्हारे जीवन की अन्ति
रात्रि है। अतएव आठ-गुनी मात्रा लेकर आज तुम खूब छकक
अपनी इच्छा की पूर्ति करो क्योंकि कल सूर्योदय पर ही तुम म
जाओगे।'

राजा ने गोलियाँ खा लीं, परन्तु उसके हृदय में मौत का डर ऐसा बैठ गया कि जब वह अपने महल में लौटा और नित्य के अनुसार उसकी प्रेयसियों ने उसे घेर कर उसे आकर्षित करने का प्रयत्न किया, तब आठ गोलियों का जोर होने पर भी उसकी तबियत जरा भी नहीं बदली। सुन्दरियों ने उसे तेज-से-तेज शराब पिलाई, परन्तु उसे नशा नहीं हुआ। उन सुन्दरियों को बहलाने के लिए उनसे मामूली बातचीत कर लेता था। घड़ियाल का शब्द सुनते ही समय पूछने के लिए नौकरों को दौड़ाता था। इस प्रकार हाय-हाय में रात्रि व्यतीत हुई। राजा पर डर की मुर्दनी छा गई। उसने अपने मन्त्रियों तथा परिवार को बुलाकर सारा वृत्तान्त सुनाया और सूर्योदय से पहले अपने राज्य के भविष्य का प्रबन्ध व दान-पुण्य उसने किया।

अब सूर्योदय हुआ। राजा डर के मारे मृत-वत् हो गया। परिवार रोने-पीटने लगा, परन्तु राजा नहीं मरा। प्रथम प्रहर गया, द्वितीय गया, तृतीय गया, चतुर्थ गया, सन्ध्या हुई, राजा नहीं मरा। राजा क्रोधित होकर सिद्ध के पास गया और उसकी प्रतारणा करने लगा कि 'तैने झूठ-मूठ ही आज सूर्योदय के समय मेरी मौत बताई!'

सिद्ध ने उत्तर दिया, 'राजन्! तुम्हारी पूर्व-जिज्ञासा के उत्तर में मैंने यह जाल रचा। तुमने पूछा था कि मुझे एक ही गोली खाकर इतनी मस्ती क्यों होती है और तुम्हें दो गोली खाकर भी कुछ नहीं होता। तुम्हें कल रात्रि के उदाहरण से इसका उत्तर भली प्रकार मिल गया है। कल तो तुमने आठ गोलियाँ खाईं, परन्तु मृत्यु की विभीषिका ने तुम्हारी सारी मस्ती हवा कर दी। मुझे तो प्रति-क्षण वही डर बना रहता है, तुम्हें केवल कल की रात पैदा हुआ, तो मुझ पर कैसे मस्ती चढ़ सकती है?'

इस उदाहरण पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि 'कर्पूर-स्तव-राज' के उपर्युक्त श्लोक में बताई हुई साधना असम्भव नहीं है। उपर्युक्त कहानी के राजा को विषय-विरक्ति अज्ञात भाव से हुई है और सिद्ध की विरक्ति ज्ञात भाव से थी। इससे स्पष्ट हो गया कि विषयासक्ति केवल मन का कार्य है, शरीर का नहीं। 'रसखान'

कवि ने इस भावना को एक बड़े अच्छे उदाहरण से व्यक्त किया

'सुनिए सबकी, कहिए न कछू, रहिए इमि या भव—बागर
करिए व्रत-नेम सचाह लिए, जिनतें तरिए भव-सागर में
सब सों मिलिए दुरभाव बिना, रहिए सत-सङ्ग उजागर
'रसखान' गोविन्दहि यों भजिए, जिमि नागरि को चित गागर में

कितना उत्तम उदाहरण है आपके नित्य के जीवन का ! प
पनघट से पानी की गागर लिए—भरी हुई गागर सिर पर रक्खे
को आती है। रास्ते में सङ्गिनियों के साथ अपने घर की, गाँव
दुःख-सुख की बातें करती चलती है। किसी सङ्गिनी के साथ उस
अत्यन्त क्रोध-पूर्ण वाक्-युद्ध भी चल रहा है। बोलते-बोलते
हाथ मटकाती है, सिर हिलाती है, परन्तु क्या मजाल कि उसके
पर रक्खी हुई गागर गिर जाय ! इन सब कामों में लगे रहने
भी उसका चित्त अपने सिर की गागर पर लगा हुआ है।

इसी प्रकार क्या आप संसार के तमाम काम नहीं कर सकते
यदि आप सच्ची इच्छा करें, तो अवश्य कर सकते हैं। फिर आ
चलकर 'कर्पूर-स्तव-राज' में लिखा है—

श्मशानस्थः सुस्थो गलित-चिकुरो दिक्-पट-धरः,
सहस्रं त्वत्कीर्णां निज - गलित - वीर्येण कुसुमम्।
जपंस्त्वत् - प्रत्येकं मनुमपि तव ध्यान - निरतो,
महा-कालि ! स्वैरं स भवति धरित्री - परिवृढः॥
गृहे सम्मार्जिन्या परिगलित - वीर्यं हि चिकुरम्,
समूलं मध्याह्ने वितरति चितायां कुज - दिने।
समुच्चार्य प्रेम्णा मनुमपि सकृत्-कालि ! सततम्,
गजारूढो याति क्षिति-परिवृढः सत् - कवि - वरः॥

अर्थात् -'हे महा-कालि ! जो साधक स्थिर-चित्त से श्मशान
स्थित होकर मुक्त-केश दिगम्बर अवस्था में अपने स्खलित वीर्य
लिप्त किए हुए आक के सहस्र पुष्पों को, तेरा ध्यान करता हुआ,
नाम-मन्त्र-जप-पूर्वक, एक-एक करके तेरे निमित्त अर्पण करता
वह अनायास ही राजा होता है। हे कालि ! जो साधक सम्मार्ज
द्वारा गृह में गिरे हुए वीर्य को लेकर उसमें समूलोत्पाटित

मिलाकर मङ्गल-वार के मध्याह्न (अथवा मध्य रात्रि, देखिए—ककार-कूट-रहस्य )—में

**'नखं केशं स्व-वीर्यं च यद्यत् सम्मार्जनी-गतम्, मुक्त-केशो दशा-वासो मूल - मन्त्र - पुरस्सरः । कुज-वारे मध्य - रात्रौ होमं कृत्वा श्मशानके···।।'**

अर्थात् जो चिता में केवल एक बार भी होम करता है और होम करते वक्त प्रेम से निरन्तर तेरे मन्त्र का जप करता रहता है, वह हाथी की सवारी करनेवाला नर-पति होता है और उत्तम विद्वानों में श्रेष्ठ होता है।

साधक ! उपर्युक्त साधना पर विचार कीजिए। क्या उपर्युक्त साधना बिना घृणा, लज्जा, भय का त्याग किए सम्भव है ? वीर्य, केश, नख—इससे अधिक घृणित होम-सामग्री क्या हो सकती है ? ऐसी सामग्री को भी जो साधक पूजा की उत्तम सामग्री करके जानता, मानता और प्रयोग में लाता है, उसको फिर संसार में क्या कोई घृणा की वस्तु बाकी रह गई ? चिता-सरीखा जिसका होम-कुण्ड तथा श्मशान-सरीखा जिसका पूजा-स्थल और महा-निशा-सरीखा जिसका पूजा-काल है, क्या ऐसे साधक ने भय को नहीं जीत लिया ? जो दिन-दोपहर नङ्गा रहता है, उसके बराबर निर्लज्ज दूसरा कौन है ?

उपर्युक्त समय, स्नान तथा सामग्री से इष्ट-देव का प्रेम से पूजन करनेवाला और उसके चरणों में लीन होकर उसके मन्त्र का जप करनेवाला निस्सन्देह वीर-भाव की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। वह 'सिद्ध वीर' है।

**'हालां पिबन् दीक्षित - मन्दिरेषु ।**
**सुप्तो निशायां गणिका - गृहेषु ।।**
**गृहे गृहे चर्वण चर्वयन्तम् ।**
**विराजते कौलिक - चक्रवर्ती ।।'**

अर्थात्—कौलिकों का सम्राट्, जिसने कुल-मार्ग की साधना में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया है, कलार की हाट में मदिरा पीता है, रात्रि में गणिका के घर में सोता है और घर-घर, जहाँ भी प्राप्त हो गया, वहाँ चर्वण-भक्षण करता हुआ शोभित होता है।

उपर्युक्त श्लोक का जरा व्यावहारिक बुद्धि से तात्पर्य समझ
का प्रयत्न कीजिए। कलार की हाट और वेश्या का घर समाज
सर्व-निन्दित स्थान समझे जाते हैं। दरवाजे-दरवाजे फिर कर खा
महा-निन्दित तथा अपमान-जनक कार्य समझा जाता है। सा
समाज जिससे घृणा करता है, वह व्यक्ति भी ऐसे स्थानों से त
ऐसे कार्यों को करने से घृणा करता है, सकुचाता है। भद्र तथा अभि
जात वर्ग का तो क्या कहना ?

वैसे तो कोई महाशय भले ही घनघोर मद्यप और वेश्या-गा
हों, परन्तु खुले आम कलार की हाट में जाकर शराब पीना व वेश्
के घर सोने का साहस किसी में नहीं हो सकता। वैसे ही भद्र पुरु
चाहे भले ही गुप्त-खोर और दूसरे का माल उड़ानेवाले हों, पर
वे कभी किसी के दरवाजे खड़े होकर उसके घर का पका-पका
अन्न माँगकर खड़े-खड़े नहीं खा सकते। क्यों ? क्योंकि इन कार्यों
उसे लोकापवाद का भय है। वह शरमाता है। वह मद्य-पान, वेश्य
गमन व दूसरे के घर माँग कर खाना बुरा समझता है और चाहे व
गुप-चुप इन कामों को करता भी हो, परन्तु प्रकट में जनता के अप
मान व घृणा के डर से वह इन कामों को नहीं कर सकता, पर
कौलिक का तो देहाभिमान नष्ट हो चुका है। उसमें मानापमान क
भावना कहाँ से आवे ? उसके लिए गणिका गणिका नहीं रह गई
उसकी दृष्टि में तो वह जोती-जागती जगदम्बा की प्रतिमा है--

'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'—श्रीदुर्गा-सप्तशती।

मद्य उसके लिए मद्य नहीं रह गया। माँगना उसके लिए भिक्षा
वृत्ति नहीं रह गई। वह सांसारिक मान से दूर भागता है, अपमा
को अपनाता है। मनु के शब्दों में वही सच्चा ब्राह्मण है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्यैव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥

अर्थात् ब्राह्मण को सम्मान से सदा विष की तरह घबड़ाना चाहि
और अपमान की आकांक्षा सदा अमृत की तरह करनी चाहिए।

सच बात तो यह है कि कौलिक तो मनु के उपर्युक्त ब्राह्मण
भी आगे बढ़ा हुआ है। उसकी तो पसन्द ही मिट चुकी है, उसके लि
मानापमान दोनों समान हैं।

वीर-भाव की साधना सच्चे हृदय से करते-करते यह अवस्था समय प्राप्त होने पर साधक को स्वयं प्राप्त हो जाती है। इसके पूर्ण-रूपेण प्राप्त होते-होते कुछ बीच में माध्यमिक अवस्था रहती है। उस वक्त साधक को कुछ-कुछ देहाभिमान रहता है। यह अवस्था वीर तथा दिव्य भावों के बीच की 'सिद्ध वीर' अथवा 'दिव्य वीर' अवस्था है। इस मध्य-कालीन अवस्था में साधना के प्रयोग और भी कठिन हो जाते हैं। साधक 'चीनाचार' से साधना करने लगता है। अब उसे सामान्य शौच से भी प्रयोजन नहीं है। पहले-पहल तो ये हाथ-पैर-मुँह धो लेते हैं, फिर यह कार्य मानसिक कल्पना से किया जाता है, बाद में मानसिक कल्पना की भी आवश्यकता नहीं रहती। 'पुरश्चर्यार्णव' में इसका वर्णन निम्न प्रकार है—

मणि-बन्धादधः पाणिं, पादौ गुल्फादधः शिवे !
मुखं प्रक्षालयेद् देवि ! चीन-स्नानमिदं भवेत् ॥
स्नानं दानादिकं कृत्वा, तथा पूजादिकं प्रिये !
तथा म्लानो न मे देहो, न च पापं ममास्ति वै ॥
किं स्नानं कस्यचित् स्नानमस्नातः कृत-भोजनः ।
सर्वमेव हृदम्भोजे, मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
मयि जाता मन्त्र-सिद्धिर्मम देवा वर - प्रदाः ॥

इत्यादि।

अर्थात्—'कलाई से नीचे हाथ व गुल्फ से नीचे पैर धो लीजिए, तथा कुल्ला कर लीजिए, चीन-स्नान हो गया। इस प्रकार का स्नान कर तथा दान व पूजादि कर साधक मन में चिन्तन करे—मेरा देह मलिन नहीं है, मेरा कोई पाप नहीं है—किस बात का नहाना, कैसा नहाना ! साधक बिना नहाए तथा भोजन करने के बाद इष्ट-साधन करे और कल्पना करे कि मेरे हृदय के अन्दर मुझमें सारा संसार प्रतिष्ठित है, मुझे मन्त्र-सिद्धि हो गई है और देवता मुझे वर देने को तैयार हैं।'

उपर्युक्त महा-चीन-क्रम 'निष्कल' है और अशक्तों के लिए है, जिनको कुछ सङ्कोच, झिझक वा घृणा है, परन्तु जो इसके भी ऊपर उठ चुके हैं, उनके लिए 'सकल' क्रम है, जिसका वर्णन 'पुरश्चर्यार्णव' इस प्रकार करता है—

स्नानादि - मानसं शौचं, मानसः प्रवरो जपः ।
पूजनं मानसं दिव्यं, मानसं तर्पणादिकम् ।।
मानसो नियमः प्रोक्तो, मानसं दन्त - धावनम् ।
सर्व एव शुभः कालो, नाशुभो विद्यते क्वचित् ।।
न विशेषो दिवा - रात्रौ, न सन्ध्यायां महा - निशि ।
शुद्धिं न कारयेदत्र, निर्विकल्पं मनश्चरेत् ।।
नात्र शुद्धेरपेक्षाऽस्ति, न चामेध्यादि - दूषणम् ।

सर्वदा पूजयेद् देवीमस्नातः कृत - भोजनः ।
महा - निश्यशुचौ देशो, बलिं मन्त्रेण दापयेत् ।।
स्त्री - द्वेषो नैव कर्तव्यो, विशेषात् पूजनं स्त्रियः ।
जप - स्थाने महा - शङ्खं, निवेश्योर्ध्वं जपं चरेत् ।।
स्त्रियं गच्छन् स्पृशन् पश्यन्, यत्र कुत्राप्यचञ्चके ।
भुक्त्वा ताम्बूलमन्यांश्च, भक्ष्य - द्रव्यान् यथा - रुचि ।।
मांसं मत्स्यं दधि क्षौद्रं, सम्विदासवयो रसम् ।
भोज्यान्यशेष - भक्ष्याणि, दत्वा भुक्त्वाऽऽचरेज्जपम् ।।
दिक्काल - नियमो नास्ति, तिथ्यादि - नियमो न च ।
न जपे काल - नियमो, नाचमेषु बलिष्वपि ।।
स्वेच्छा - नियम उत्क्रोऽत्र, महा - मन्त्रस्य साधने ।
वस्त्रासनं गेह - देहं, स्पर्शास्पर्श - विचारिणे ।।
तैलं संलाप्य देवेशि ! ताम्बूलं भक्षयन् सदा ।
नानाम्बराणि सन्धार्य, देहं वस्त्रेण मार्जयेत् ।।
मन्त्रं स्नानं चरेद् देवि ! सर्वदा तद् - गताशयः ।
केशान् सम्वर्द्धयेद् देवि ! सर्वदा तैल - भूषितः ।।
नाधर्मो विद्यते सुभ्रु, किन्तु धर्मो महान् भवेत् ।
स्वेच्छाचारोऽत्र कथितः, प्रचरेद् हृष्ट - मानसः ।।
कृतार्थ - मन्यमानस्तु, सन्तोष्य निज - मानसम् ।

... ... ... निर्विकल्पः सदा भवेत् ।
सद्यो मद्यं पिबेद् देवि ! मातङ्गीमिविहारवान् ।।

योनिं चुम्बन् लिहन् पश्यन्, जपं कुर्यादनन्यधीः।
योनौ विचिन्त्य जप्तव्यं ... ... ...
मुण्ड - माला गले धार्या, कपालं पाणि - सङ्गतम्।

न शौचादि - क्रिया - कार्याः, स्मृति - शास्त्र - प्रचोदिताः॥
एका लिङ्गे गुदे पञ्च, इत्याद्याः प्रकीर्तिताः।
न ताः कार्याः साधकेन्द्रैः ... ... ...
न देश - काल - नियमो, भक्ष्यादि - नियमो न हि।
शौचादि - नियमो नास्ति, महा - मन्त्रस्य साधने॥
दिवसे वा तथा रात्रौ, रात्रि - शेषे निशा - मुखे।
मांसं भुक्त्वाऽऽसवं पीत्वा, स्त्रियं गत्वाऽऽचरेज्जपम्॥

अर्थात्—स्नान, शौच, दन्त-धावन, जप, पूजन, तर्पण, नियम इत्यादि सब मन से ही करे, शरीर से नहीं अर्थात् इनकी कल्पना मात्र ही करनी चाहिए। चीनाचारी को सब दिन, समय, मुहूर्त प्रभृति शुभ हैं, कोई भी काल अशुभ नहीं है। उसके लिए दिन, रात, साँझ, सबेरे, आधी रात में कोई अन्तर नहीं है। वह शुद्धि (स्थूल शुद्धि) नहीं करता। उसका मन निर्विकल्प है, उसको कोई पसन्द नहीं, नापसन्द नहीं (विकल्प कहते हैं पसन्द या छाँट को)। सफाई या शुद्धि की उसको कोई आवश्यकता नहीं है। अमेध्य में वह कोई दोष नहीं मानता। चीनाचारी को देवी का पूजन सदा बिना नहाए हुए और भोजन करने के बाद करना चाहिए। अर्द्ध-रात्रि में गन्दे स्थान पर जाकर देवता को मन्त्र-युक्त बलिदान देवे।

स्त्रियों से द्वेष न करे। स्त्रियों का विशेष रूप से पूजन करे। जहाँ कहीं भी स्त्री-गमन, स्पर्शन, दर्शन करे। अचूड़क में भोजन करे ('पुरश्चर्यार्णव' में अचूड़क का लक्षण। यथा—'चूड़ोपनयनेहीनं एतच्चाचूड़कं विदुः'—चूड़ोपनयन होने से पूर्व जो बालक मर गया हो, उसे अचूड़क कहते हैं)। स्त्रियों को ताम्बूल और यथा-रुचि भक्ष्य द्रव्य—मांस, मत्स्य, दधि, क्षौद्र, मद्य इत्यादि सर्व-प्रकार भक्ष्य-भोज्य देकर तथा स्वयं खाकर जप करे। दिशा, काल, तिथि इत्यादि की जप, अर्चा, बलि-प्रदान इत्यादि में कोई अपेक्षा नहीं होती।

महा-मन्त्र की साधना में 'चीनाचार' के अनुसार वस्त्र, अ
शरीर, घर, स्पर्शास्पर्श के विषय में स्वेच्छाचार है अर्थात् छुआ
का कोई विचार नहीं है। तैल-मर्दन, ताम्बूल-भक्षण तथा
प्रकार के वस्त्र धारण करे। शरीर को कपड़े से पोंछ सकत
सर्वदा जगदम्बा के चरणों में मन लगाता हुआ साधक केवल
(कल्पित) स्नान करे। केशों को बढ़ा हुआ रखे। प्रसन्न-मन
स्वेच्छाचरण करे। इसमें साधक को धर्म है, अधर्म नहीं। अप
सर्वदा कृतार्थ समझकर मन को सन्तोष देकर निर्विकल्प रहे।

सद्यः मद्य-पान करके मातङ्गी (भंगन) के साथ विहार
हुआ उसके उपस्थ का चुम्बन, अवलेहन, दर्शन करता हुआ जग
के चरणों का अनन्य-भाव से चिन्तन कर इष्ट-मन्त्र का जप
योनि में जगदम्बा का चिन्तन करके जप करे। गले में मुण्ड
कपाल) माला, हाथ में नर-कपाल लिए रहे। स्मृति-शास्त्र में
शौच-क्रिया (याने इतने बार उपस्थ धोना, इतने बार गुदा इ
धोना इत्यादि) न करे। 'महा-चीन' क्रमानुसार महा-मन्त्र के
में देश, काल, भक्ष्याभक्ष्य, शौचाशौच इत्यादि का कोई नियम
यह विधि-निषेध से परे है। दिन-रात, सुबह-शाम, जब चाहे-
मांस खाकर तथा मद्य पीकर स्त्री के सहवास में जप करे।
प्रकार 'पुरश्चर्यार्णव' में 'महा-नील-क्रम' भी बताया [गया है।

महा-नील-क्रमो देवि ! द्विविधः परिकीर्तितः।
सकलो निष्कलश्चेति, तं क्रमं शृणु पार्वति ! ॥
खड्ग-हस्तः शिरो न्यस्तः, सर्वदा मुक्त-कुन्तलः।
सदा मांसासवोल्लासी, विजया-घूर्ण-लोचनः ॥
सिन्दूर-तिलकं भाले, पाणौ तु मदिरा-रसम्।
रात्रौ पर्यटनं चैव, रात्रौ शक्तेः प्रपूजनम् ॥
योनि-चुम्बनं कर्म, शक्तेरालिङ्गनं तथा।
न करोति नरो यस्तु, स कथं तव पूजकः ॥
ताम्बूल-योनि-चक्रं च, मुण्ड-मालां शवासनम्।
सिन्दूरं खड्गकं चैव, सम्विदासवयो रसम् ॥
एतान् विहाय यः कश्चित्, कालीं साधितुमुद्यतः।
इह क्षोभमवाप्नोति, परत्र नरकं व्रजेत् ॥

श्मशान-शायी मांसाशी, सम्विदानन्द-मानसः ।
स्त्रियं पश्यन् स्पृशन् गच्छन्, सर्व-कालं जपं चरेत् ।।
वेश्या-रतः श्मशानस्थो, मृद्वचूडक-संयुतः ।
दन्ताक्ष-मालया देवि ! राज-दन्तेन मेरुणा ।।
मालां कृत्वा जपेद् देवि ! सदा ताम्बूल-चर्वकः ।
कपाल-मालाऽऽभरणो, रामा - चुम्बन-तत्परः ।।
शक्त्यानन्दो नेत्र-युगे, मुखे हाला गृहाङ्गणे ।
वेश्या-बाला करे माला, शक्ति-लीला भगाम्बुजे ।।
योनि-सञ्चुम्बनं कृत्वा, सर्व-काले जपं चरेत् ।
शक्तेर्भगं नमस्कार्यं, सर्वमेतच्चराचरम् ।।
अविकारी प्रहृष्टात्मा, स्त्री-भक्तो विजितेन्द्रियः ।
ईदृग्-विधो नरो देवि ! महा-नील-क्रमो मतः ।।
अशक्तानां निष्कलः स्यात्, तं क्रमं शृणु पार्वति !
विजया-दुग्धकं पीत्वा, सच्चिदानन्द-मानसः ।।
स्फाटिकीं मालिकां कृत्वा, विहारे जपमाचरेत् ।
दिक्-काल-नियमो नास्ति, तिथ्यादि-नियमो न च ।।
न जपे काल-नियमो, महा-मन्त्रस्य साधने ।

● ● ●

मृदु - कोमलकं देवि ! चूडकं वाप्यचूडकम् ।
शवं वीरासनं कृत्वा, योनि-त्वगासनं च वा ।।
काम - रूपासनं देवि ! सुरतासनमेव च ।
सिन्दूरासनं देवि ! पर्वतासनमेव च ।।

अर्थात्—हे देवि ! महा-नील-क्रम दो प्रकार का बताया गया है—१ सकल और २ निष्कल । सकल का क्रम सुनो— हाथ में खड्ग, कपाल को धारण किए हुए सर्वदा साधक मुक्त-केश रहे, सदा मांसासव के उल्लास से युक्त, विजया-पान से जिसके नेत्र घूर्णित हो रहे हैं, मस्तक में सिन्दूर का तिलक तथा हाथ में मदिरा-रस को धारण किए हुए साधक रात्रि को पर्यटन तथा शक्ति (स्त्री) का आलिङ्गन करे । जो मनुष्य ऐसा नहीं करता, हे देवि ! वह कैसे तेरा पूजक कहला सकता है ? ताम्बूल, योनि-चक्र, मुण्ड-माला, शवासन, सिन्दूर, खड्ग और सम्विदासव-रस—इनको छोड़कर जो साधक काली

का साधन करने को उद्यत होता है, उसको यहाँ क्षोभ होता है औ
मरणोपरान्त वह नरक-गामी होता है। नील-क्रम का साध
श्मशान-शायी, मांसाशी, ज्ञानानन्द से युक्त मनवाला, स्त्रियों
देखता, स्पर्श करता हुआ तथा उनका भोग करता हुआ सर्व-का
में जप करे। नील-क्रम का साधक श्मशान में स्थित, मृदु त
अचूड़क[1] से युक्त, वेश्या में रत, दन्त अथवा रुद्राक्ष-माला से, जिसक
मेरु राज-दन्त[2] है, जप करे और सदा ताम्बूल सेवन करे। नी
साधक कपाल-माला से अलंकृत रामा-चुम्बन में तत्पर रहता है
नील-साधक के नेत्र शक्त्यानन्द से युक्त, मुख में मदिरा, उसके घ
के आँगन में वेश्या-बाला, हाथ में माला-युक्त होकर स्त्री के योनि

---

[1] मृदु और अचूड़क का लक्षण 'पुरश्चर्यार्णव' में इस प्रका
दिया हुआ है। यथा—

अर्वाक्-षण्मासतो गर्भ - च्युतमाहुर्मृदुं बुधाः।
चूड़ोपनयनैर्हीनमेतच्चाचूडकं विदुः॥

अर्थात्—छः मास तक के स्रवित अर्भक के मृत शरीर को 'मृदु' औ
चूड़ोपनयन-हीन मृत बालक के शव को 'अचूड़क' कहते हैं।

[2] शक्तिसङ्गम - तन्त्रे, तारा - खण्डे (६) राज-दन्त-लक्षण
यथा—

सम्मुखौ यौ उभौ दन्तौ राज-दन्तौ प्रकीर्तितौ।
करालास्य-महा-काल्या दानवा भक्षिताः पुरा॥३४॥
त्रैलोक्य-ग्रासिनौ दन्तौ राज-दन्ताविति स्मृतौ।
राज-दन्तेति संज्ञा वै देव्या पूर्वं कृता प्रिये!॥३५॥
यौ दैत्य-चर्वकौ दन्तौ मम कार्य - करावुभौ।
तस्मात् प्रीतेन मनसा मेरु-कार्ये नियोजितौ॥३६॥

अर्थात्—मुख में सबसे आगे के (सामने के) ऊपर के दो दा
'राज-दन्त' कहलाते हैं। महा-काली ने पूर्व-काल में अपने कराल मु
से दैत्यों को भक्षण किया। इस कारण त्रैलोक्य को ग्रास करनेवा
ये दो दाँत 'गज-दन्त' कहलाये। हे प्रिये! देवी ने पूर्व-काल
इनकी 'राज-दन्त' संज्ञा की है कि ये दोनों दन्त मेरा कार्य करनेवा
हैं, इसलिए प्रसन्न होकर मैंने इनको 'मेरु' नियुक्त किया है।

कमल में चित्-शक्ति की लीला देखता है। योनि-चुम्बन करके सब काल में जप करे। स्त्री के उपस्थ को 'यही सब चराचर है', ऐसी भावना से नमस्कार करे। इस प्रकार प्रहृष्टात्मा, विकार-हीन, स्त्री-जाति का भक्त और जितेन्द्रिय मनुष्य महा-नील-क्रम का साधक है।

अब हे पार्वति! जो अशक्त हैं (अर्थात् जिनके मन में वासना की दुर्बलता है), उनके लिए निष्कल नील-क्रम है। विजया-भुक्त दुग्ध (मद्य के बदले) पान करके, मन में सच्चिदानन्द-युक्त होकर, स्फटिक की माला से विहार (मठ) में जप करे। दिशा, काल, तिथि का महा-मन्त्र के साधन में कोई नियम नहीं है। मृदु, कोमल [3] चूड़क वा अचूड़क शव में वीरासन करके अथवा योनि, त्वक्, काम-रूप, सुरत, सिन्दूर, पर्वत इत्यादि में से कोई भी आसन ग्रहण कर जप करे, इत्यादि।

इसी प्रकार अन्य 'साधन-क्रम' (गन्धर्व-क्रम, सौभाग्य-क्रम, ब्रह्म-मार्ग-क्रम) भी हैं और ये सब साधन-क्रम उच्च-कोटि के 'वीर' साधक के लिए हैं। उपर्युक्त साधन-क्रमों पर जरा ठण्डे दिल से विचार कीजिए, इनके लिए कितने मनः-संयम की आवश्यकता है। पूजा-स्थान 'श्मशान' और वहाँ भी रात्रि में साधना करना! क्या ऐसे साधक ने 'भय' को पराजित नहीं कर लिया? शवासन, मनुष्य के दाँतों की माला, मनुष्य की खोपड़ी का पूजा-पात्र, स्नान-शौचादि से विरक्ति—ऐसे जिसके साधनोपकरण हैं, क्या उसके समीप कभी 'घृणा' फटक भी सकती है? जो खुले आम चाण्डाल के घर में रह सकता है, विवस्त्र होकर घूम-फिर सकता है, उसको क्या कभी 'लज्जा', 'शङ्का', 'कुल', 'शील', 'जाति' की विभीषिका सता सकती है? और जब उसकी दृष्टि तथा व्यवहार में भेद-भाव ही नहीं रह गया, तो वह किसी की 'जुगुप्सा' क्यों करने लगा?

---

[3] कोमल-लक्षणं, शक्ति-सङ्गमे, तारा-खण्डे, ६७, ६८

**निवृत्त-चूड़को बालो, हीनोपनयनः शिवे!**
**यो मृतः पञ्चमे वर्षे, तमेव कोमलं विदुः॥**

जिसका चूड़ा-कर्म हो गया हो, परन्तु उपनयन न हुआ हो, ऐसे पञ्चम-वर्ष में मृत बालक के शव को कोमल कहते हैं।

किंचित् निष्पक्ष होकर आपको विचार करना होगा। बा
बातों को देखकर भुलावे में मत पड़िए। देखने पर आपको बा
दृष्टि से ये सब कार्य बड़े भयावह, वीभत्स तथा निर्लज्जता-पूर्ण ल
परन्तु सूक्ष्म विवेचन करने पर आप जानेंगे कि ये सब साधन के
'पाश-विमुक्ति-हेतुक' हैं, जिनमें बँधे होने के कारण आपने उप
साधनों को भयावह, वीभत्स अथवा निर्लज्जता-पूर्ण समझा है।

जिसके हृदय में डर है, वही तो किसी स्थान वा कार्य वा व
को भयावह समझेगा। निर्भय को भय कहाँ? घृणा करनेवाला
किसी वस्तु अथवा स्थान इत्यादि में वीभत्सता देख सकता
जिसके हृदय में घृणा का लेश भी नहीं, उसको कहाँ की वीभत्सत
लज्जा-शील ही किसी कार्य को निर्लज्जता-पूर्ण समझ सकता
परन्तु जिसकी लज्जा की भावना का ही उन्मूलन हो चुका है,
लज्जा व निर्लज्जता का भाव कैसे समझे? इसी प्रकार अन्य पा
के विषय में भी समझिए। इन साधनों से स्पष्ट हो जाता है कि 'वी
भाव' की साधना का उद्देश्य केवल एक-मात्र यही है कि येन-के
प्रकारेण किसी भी उपकरण से हो, 'अष्ट'-पाशों का छेदन कि
जाय। नहीं तो शास्त्र बार-बार चेतावनी क्यों देते कि निर्विक
रहो, इन्द्रियासक्ति छोड़ो, स्त्रियों को देवोपम समझो, उनको दे
भी मत, इत्यादि। यथा (शक्ति-सङ्गम २ : २० : १८)—

**अविकारी प्रहृष्टात्मा, स्त्री-भक्तो विजितेन्द्रियः।**
**ईदृग्-विधो नरो देवि! महा-नील-क्रमो मतः॥**

अर्थात्—हे देवि, महानील-क्रम की साधना वही कर सकता
जो स्त्री-जाति के प्रति भक्ति रखता हो, प्रसन्न-चित्त, विकार-ह
तथा इन्द्रियों को जीतनेवाला हो।

इसी प्रकार चीन-क्रम के विषय में—

**नित्य-मुक्त-स्वभावो यः, तस्मै तद्-व्रतमीरितम्।**
**स्त्री-द्वेषो नैव कर्तव्यो, विशेषात् पूजनं स्त्रियः॥**
**ब्रह्मी-भूते मदाचारे, विकल्पः कः प्रियेऽस्ति वै।**
**द्वन्द्व-भावं परित्यज्य, सर्व-सिद्धीश्वरो भवेत्॥**

अर्थात्—'चीन-क्रम का व्रत उसी साधक के लिए विहित है,
नित्य-मुक्त-स्वभाव हो। स्त्रियों से द्वेष कदापि नहीं करना चाहि

स्त्रियों का विशेष-रीत्या पूजन करना चाहिए। मेरे आचार में जब साधक की भावना 'अहं ब्रह्म' की हो जाती है, तो हे प्रिये ! फिर विकल्प (ग्रहण वा त्याग) कहाँ रह जाता है ? जो साधक 'द्वन्द्व-भाव' (भेद-भाव) को परित्याग कर लेता है, वह सर्व-सिद्धियों का स्वामी हो जाता है।'

लेखक ने अपने विचार से इस विषय के पर्याप्त प्रमाण पेश कर दिए हैं, परन्तु यदि किसी साधक को इस विषय में फिर भी शङ्का रह जाय, तो उन्हें शक्ति-सङ्गम, वीर-तन्त्र, पुरश्चर्यार्णव, महाकाल-संहिता इत्यादि तन्त्र-ग्रन्थों को पढ़ना तथा 'वाम-मार्ग' के उत्तम साधकों का सत्सङ्ग करके उनके साथ 'चक्रार्चन' करना चाहिए। चक्रार्चन में सभी प्रकार के विचारों के वीराचारियों का एकत्र होना स्वाभाविक है और फिर चूँकि चक्रार्चन केवल पूजन के ही निमित्त होता है, अतएव उपस्थित साधकों के बीच एतत्सम्बन्धी वार्त्तालाप होने से ज्ञान की वृद्धि होना स्वाभाविक है। यह पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि 'वीर-भाव' के साधन पुस्तकों में पढ़ने से कभी भी समझ में नहीं आते। ये साधन तभी समझे जा सकते हैं, जब कि साधकों, विद्वानों तथा गुरुओं के साथ प्रत्यक्षतः इसके विषय में बातचीत होती है। 'चक्र-सम्मेलन' इसके अत्यन्त ही उपयुक्त है, कारण कि पूजा के आनन्द तथा प्रथमा के उल्लास में साधकों के सङ्कोच खुल जाते हैं और उनके हृदयों में गोपन करने की भावना नहीं रह जाती। इसीलिए 'कुलार्णव तन्त्र' (१० : ३, ४) में लिखा है कि—

**उत्तमा नित्य-पूजा स्यान्मध्यमं पर्व-पूजनम्।**
**मास-पूजाऽधमा देवि ! मासादूर्ध्वं पशुर्भवेत् ॥**
**विहितैर्मादिभिर्द्रव्यैर्मासादूर्ध्वं समर्च्चनम्।**
**पशोर्भूयः प्रवेशेच्छा यदि स्याद्दीक्षयेत् पुनः ॥**

अर्थात्—चक्रार्चन नित्य करना उत्तम है, पर्व-काल में चक्रार्चन मध्यम तथा मास-मास का चक्र-पूजन अधम है। जो मास में एक दिन भी पूजन नहीं करता, वह पशु हो जाता है (इसमें संदेह नहीं है—कारण कि उसको कौलों का पूजा-सत्सङ्ग प्राप्त न होने से कुल-शास्त्रों का ज्ञान नहीं हो सकता और जो थोड़ा-बहुत ज्ञान उसे पहले

का रहता भी है, उसका अनुशीलन-मनन न होने से वह विस्मृत हो जाता है) परन्तु यदि ऐसे पतित साधक को पञ्च-मकार से पूजा से करने की फिर भी इच्छा हो (यानी फिर भी वीर-भाव की साधना करना चाहता हो), तब उसे फिर नये प्रकार से दीक्षा लेनी चाहिए।

अब आपको भली प्रकार से स्पष्ट हो गया होगा कि 'वीर-भाव' की साधना किस प्रकार आपके पाशों का छेदन करके आपको जीव-न्मुक्त अवस्था में पहुँचाती है। ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर आपको अब पञ्च–मकारों की प्रकृत रूप में आवश्यकता नहीं रह जाती। आवश्यकता न होने पर आपको उनके लिए इच्छा-अनिच्छा भी नहीं। जब साधक की ऐसी अवस्था हो जाती है, तो समझ लीजिए, वह 'दिव्य-भाव' के अन्दर प्रवेश कर चुका है।

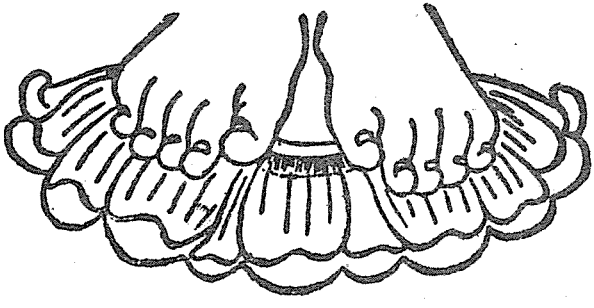

# दिव्य - भाव

**कृत्वोङ्कार-प्रदीपं मृगय-गृह - पतिं सूक्ष्म - नाड्यन्तरस्थम्,**
**संयम्य द्वार - वाहं पवन - पटु-तरं नायकं चेन्द्रियाणाम् ।**
**वाग्-वादैः कस्य हेतोर्वितरसि तरसा तेन तेनेह किञ्चित्,**
**स्वात्मस्थं पश्य नाथ ! भ्रमसि किमुपरैः शास्त्र-जालान्धकारैः ।।**

'दिव्य-भाव' की अवस्था को प्राप्त करने के लिए पञ्च-मकारों को आप जिस रूप में 'वीर-भाव' में प्रयुक्त करते आए हैं, उस रूप में उनको प्रयुक्त करने की आपको आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जिस प्रकार भरपेट भोजन करने पर आपको अमृतोपम स्वादु-व्यञ्जन की ओर भी आकर्षण नहीं होता, वही बात आप 'दिव्य-भाव' के विषय में भी समझ लीजिए। आपकी 'मद्य' वह 'मद्य' नहीं रह गई है, जो जन-समुदाय में मद्य करके गिनी जाती है, बल्कि 'ब्रह्मानन्द-रस' है—

**आमूलाधारमाब्रह्म - रन्ध्रं गत्वा पुनः पुनः ।**
**चिच्चन्द्र-कुण्डली-शक्तिः, सामरस्य-सुखोदयः ।।**

**व्योम-पङ्कज - निस्यन्द - सुधा-पान - रतो नरः ।**
**सुधा - पानमिदं प्रोक्तमितरे मद्य - पायिनः ।।**

अर्थात्—'चन्द्रमा के समान प्रकाश-वती चैतन्य-रूपा कुण्डली-शक्ति जब मूलाधार से उठकर बार-बार ब्रह्म-रन्ध्र तक जाकर सहस्रार में परमात्मा से संयुक्त होती है और इस सामरस्य से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उसके फल-स्वरूप व्योम-पङ्कज (सहस्र-दल-कमल) से 'अमृत' का निर्झरण होता है; इसको खेचरी-मुद्रा के प्रयोग से जो साधक पान करते हैं, वे सुधा (सुरा) पान करते हैं। इनके अतिरिक्त तो मद्य-पायी हैं।' शक्ति-सङ्गम का कथन है—

**न मद्यं माधवी मद्यं—मद्यं शक्ति-रसोद्भवम् ।**

'मद्य' माध्वी, पैष्टी प्रभृति नहीं है, बल्कि शक्ति-शिव-सामरस्य से उद्भूत 'रस' है। शक्ति-सङ्गम में फिर आगे चलकर 'दिव्य-पान' का लक्षण बताया है—

प्राणापानौ समाहारौ, प्रत्याहारो मनः-स्थिरम् ।
भानु-मण्डलगं भित्त्वा, इन्दु-मण्डल-मध्यगम् ।।
सुषुम्णा-वर्त्मना नित्यं, सुधा - धारापकर्षिणी ।
दिव्य-पानमिदं प्रोक्तं, सर्व-सिद्धि-करं परम् ।।

इसी को शिव-संहिता ने 'कुलामृत' कहा है। यथा—

अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं, परमानन्द - लक्षणम् ।
श्वेत-रक्तं तेजसाढ्यं, सुधा-धारा - प्रवर्षिणी ।।
पीत्वा 'कुलामृतं' दिव्यं, पुनरेव विशेत् कुलम् ।

अर्थात्—'वह परमानन्द-लक्षण स्वर्गस्थ (सहस्रारस्थ) 'अमृत' है, जो श्वेत-रक्त-वर्ण तैजस से युक्त सुधा-धारा का वर्षक है। योगी इस दिव्य कुलामृत का पान करके फिर कुल में प्रवेश करे।'

षट्-चक्र-समूह का नाम 'कुल' है। देखिए, दिव्य-भावापन्न महात्मा 'मद्य' की क्या परिभाषा करते हैं; उस मद्य में वे कितने मतवाले हो रहे हैं, यथा—

ज्ञान मद-माते जे नैना निस-दिन, तिनको कबहुँ न होत खुमारी ।
सत के पियाले में धरम भर-भर पियो, रसना सवाद लेत तारन-तारी।।
तन कर माँटी मन कर सायन, पञ्च महा-भूत आनन्द-कारी ।
'हरिदास' डागुर पिया को रिझाय लेत, टपकत बूँद होत अगियारी ।।

हरिदास जी की प्रथमा ज्ञान-'मद्य' है।

'धुर तें मधुर मधु-रस हू विधुर करे,
मधु-रस बेधि उर गुरु - रस फूली है।
ध्रुव पहलाद उर हिय अहलाद जासों,
प्रभुता तिलोकहू की तिन सम-तूली है।
बेदम से बेद मतवारे मतवारे परे,
मोहे मुनिदेव देव सूली उर सूली है।
प्याला भरि दे री, एरी ! सुरति किलारी तेरी,
प्रेम-मदिरा सों मोहि मेरी सुधि-बुधि भूली है ।।

'देव' जी की राय में सुरति (भक्ति) कलवारनी की प्रेम-मदिरा ही 'प्रेम-लक्षणा भक्ति' मदिरा है। यही भक्त-शिरोमणि मीराबाई की भी राय है—'पिये प्याला प्रेम रस भर-भर, ओछ अमल की स्वाद कहारी' यथार्थ है। प्रेम कहिये, भक्ति कहिये, जब ऐसे-ऐसे घनघोर

नशों में डूब गए तो 'ओछे अमल'—हलके नशे, दुनियावी शराब या भौतिक मद्य में क्या आनन्द ?

इसी प्रकार दिव्य-भावापन्न योगी के 'मांस', 'मत्स्य', 'मुद्रा' भी प्रकृत-रूप में नहीं रह जाते। कुलार्णव का कथन है—

**पुण्यापुण्य-पशुं हत्वा ज्ञान-खड्गेन योग-वित्।**
**परे लयं नयेच्चित्तं पलाशी स निगद्यते॥**

अर्थात्—'जो साधक पाप व पुण्य नामक पशुओं को ज्ञान-खड्ग से मारकर 'परा-शक्ति' में अपने चेतस् को क्षय करता है, वही यथार्थ मांसाशी है।' कर्पूर-स्तव-राज, श्लोक १६ में लिखा है—

**स-लोमास्थि स्वैरं पललमपि मार्जारमसिते !**
**परं चौष्ट्रं मैषं नर-महिषयोश्छागमपि वा॥**
**बलिं ते पूजायामपि वितरतां मर्त्य-वसताम्।**
**सतां सिद्धिः सर्वाः प्रतिपदमपूर्वा प्रभवति॥**

उपर्युक्त श्लोक का सीधा-सादा अर्थ तो यह है कि—'हे काली ! जो साधक मेरे निमित्त लोमास्थि-सहित मांस, बिल्ली, ऊँट, मेष, नर, महिष तथा छाग-बलि देता है, उसको सिद्धि मिलती है···इत्यादि।' परन्तु दिव्य-भावापन्न साधक के लिए इसका अर्थ यह नहीं, कुछ और ही है। साधक ! यदि आप भी विचार करेंगे, तो आपकी भी समझ में आ जाएगा कि उपर्युक्त श्लोक में जो बलि-पशु बतलाए गए हैं, उनका कुछ-न-कुछ भीतरी अर्थ अवश्य है। अन्यथा जरा सोचिए, सिवाय मेष तथा छाग के अन्य बलि-पशु असाधारण-से लगते हैं। बिलाव बलि-प्रदानार्थ तो खैर कहीं नहीं है, परन्तु उसका मांस भी कोई नहीं खाता। ऊँट भी बलि-प्रदान अथवा मांस-भोजन में कहीं भी देखा-सुना नहीं गया। शायद अरब में हो, तो नहीं कहा जा सकता। नर-मांस से तो सभी घृणा करते हैं। महिष अन्त्यजों में ही भक्ष्य है और स्वास्थ्य के लिए भी अच्छा नहीं बतलाया जाता।

आप ही सोचिए ! यदि श्री महाकाल का, जिन्होंने यह कर्पूर-स्तव-राज बनाया है, तात्पर्य यह होता कि मांस की बलि चढ़ाई जाय व मांस खाया जाय, तो वे अपने स्तोत्र में मुर्गी, तीतर, हिरन, मोर इत्यादि स्वादु मांसवाले पशु-पक्षियों को न रखते ? जो भोजन

आपको प्रिय लगेगा, वह देवता को प्रिय नहीं लगेगा ! जिस खाद्य से आप घृणा करते हैं, क्या उसे आप देवता पर चढ़ाते हैं ? इससे सिद्ध हो जाता है कि उनका उपर्युक्त पशुओं के मांस से तात्पर्य कुछ और से है। इसमें और भी देखने की बात है। ये गिनती में सिर्फ ६ हैं।

इस श्लोक का अर्थ 'दिव्य-भाव' में (जो यथार्थ भाव 'शक्ति-पूजा' का है) यह है--साधक काम-क्रोधादिक षड्रिपुओं की बलि जगदम्बा के चरणों में देवे। इसीलिए इन बलि-पशुओं की संख्या षड्रिपुओं के साथ मिलाने के लिए ६ है। यहाँ षड्रिपुओं में 'काम' का प्रतीक छाग, 'क्रोध' का प्रतीक महिष, 'लोभ' का प्रतीक बिलाव, 'मोह' का प्रतीक मेष, 'मद' का प्रतीक नर (मनुष्य) और 'मात्सर्य' का प्रतीक ऊँट है। ये गुण इनमें मिलते भी हैं। जरा बारीकी से विवेचन करने की आवश्यकता है। 'अन्नदा-कल्प' में लिखा है **'काम-क्रोधौ छाग-बाहौ बलि दत्वा प्रपूजयेत्'** अर्थात् काम-क्रोध-रूपी छाग-महिष की बलि देकर जगदम्बा का पूजन करे। देखिए 'कर्पूर-स्तव-राज' की विमलानन्द-दायिनी टीका।

'भैरव-यामल' ने भी 'मांस' का यही उपर्युक्त अर्थ किया है, जो ऊपर लिखा गया है। यथा—

**काम-क्रोध-सुलोभ-मोह - पशुकांश्छित्वा विवेकासिना।**
**मांसं निर्विषयं परमात्म-सुखदं खादन्ति तेषां बुधाः॥**
**ते विज्ञान-परा धरातल - सुरास्ते पुण्य-वन्तो नराः।**
**नाश्नीयात् पशु-मांसमात्मविमेत हिंसां परं सज्जनः॥**

अर्थात्–स्पष्ट है। 'आगम-सार' में लिखा है--**'मां शब्दाद्रसना ज्ञेया तदाशान् रसना-प्रिये ! सदा यो भक्षयेद् देवि स एव मांस-साधकः'** अर्थात् हे रसना-प्रिये, 'मां' शब्द से तात्पर्य रसना से है और उसके अंश (वाणी) का जो भक्षण करता है, वही मांस-साधक है; तात्पर्य यह हुआ कि मांस-साधक वह है, जो वाक्-संयमी या मौनी है।

दिव्य-भावापन्न साधक के मत्स्य का अर्थ 'कुलार्णव तन्त्र' ने इस प्रकार किया है—

**मनसा चेन्द्रिय - गणं, संयम्यात्मनि योजयेत्।**
**मत्स्याशी स भवेद् देवि ! शेषाः स्युः प्राणि-हिंसकाः॥**

अर्थात्—मन से इन्द्रियों का संयमन करके मन को जो परमात्मा में लगाता है, वही 'मत्स्य'-भोजी है। अन्य तो प्राणि-हिंसक हैं। 'विजया-तन्त्र' तथा 'आगम-सार' में 'मत्स्य' की यह परिभाषा है—

**गङ्गा - यमुनयोर्मध्ये, मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।**
**तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु, स भवेन्मत्स्य-साधकः॥**

अर्थात्—गङ्गा-यमुना नाम की मनुष्य-शरीर में दो नाड़ियाँ इडा, पिङ्गला हैं। इनमें दो 'मत्स्य' (श्वास-प्रश्वास) चलते रहते हैं। जो साधक इन दोनों श्वास-प्रश्वास नामक मत्स्यों को पकड़ कर खा जाता है, वह 'मत्स्य'-साधक है! अर्थात् जो कुम्भक-क्रिया से श्वास-प्रश्वास को रोक देता है।

दिव्य साधक की 'मुद्रा' का अर्थ 'भैरव-यामल' ने इस प्रकार किया है—

**आशा-तृष्णा-जुगुप्सा-भय-विशद-घृणा-मान-लज्जा-प्रकोपाः,**
**ब्रह्माग्नावष्ट-मुद्राः पर-सुकृत-जनः पाच्य-मानाः समन्तात्।**
**नित्यं संभक्षयेत् तानवहित - मनसा दिव्य - भावानुरागी,**
**योऽसौ ब्रह्माण्ड-भाण्डे पशु-हित-विमुखो रुद्र-तुल्यो महात्मा॥**

अर्थात्—१ आशा, २ तृष्णा, ३ जुगुप्सा, ४ भय, ५ घृणा, ६ मान, ७ लज्जा, ८ क्रोध—इन अष्ट-मुद्राओं को जो पुण्य-भाक् साधक ब्रह्माग्नि में भली प्रकार पका कर दिव्य-भावापन्न होकर भक्षण करते हैं, वे रुद्र-तुल्य होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि आशा, तृष्णा इत्यादि दुष्प्रवृत्तियों का नाश ज्ञान के द्वारा करना ही 'मुद्रा' है। 'आगम-सार' के अनुसार 'मुद्रा' का अर्थ 'दिव्य-भाव' में इस प्रकार है—

**सहस्रारे महा-पद्मे, कर्णिका - मुद्रितश्चरेत्॥**
**आत्मा तत्रैव देवेशि! केवलः पारदोपमः॥**
**सूर्य-कोटि - प्रतीकाशश्चन्द्र - कोटि - सुशीतलः।**
**अतीव - कमनीयश्च, महा - कुण्डलिनी - युतः॥**
**यस्य ज्ञानोदयस्तत्र, मुद्रा - साधक उच्यते।**

अर्थात्—हे देवेशि! सहस्र-दल पद्म की कर्णिका में आत्मा का निवास है, जो पारद के समान है, करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान तथा करोड़ों चन्द्रमाओं के समान उत्तम शीतलता से युक्त है, बड़ा ही

कमनीय है। ऐसी आत्मा को महा-कुण्डलिनी से युक्त करने का ज्ञान जिसमें उदित होता है, वह 'मुद्रा-साधक' है। तात्पर्य यह है कि सहस्रार में कुण्डलिनी-युक्त आत्मा का ध्यान करना 'मुद्रा' कहलाता है।

दिव्य-भावापन्न साधक का 'मैथुन' वह भौतिक 'मैथुन' नहीं रह जाता, जो जीव-जगत् में नित्य का व्यवहार है। उस 'मैथुन' के लिए शास्त्र का कहना है—

**शक्ति - सम्भोग - मात्रेण, यद्यत्र मोक्षो भवेद् वै।**
**सर्वेऽपि जन्तवो लोके, मुक्ताः स्युः स्त्री-निषेवणात्॥**

अर्थात्—यदि स्त्री-सम्भोग मात्र से मोक्ष मिलता, तो सभी प्राणी 'मैथुन' करते ही हैं, इसलिए वे स्वभावतः ही मुक्त होने चाहिए। उपर्युक्त श्लोक से शास्त्र का तात्पर्य स्पष्ट ही समझ में आ जाता है कि तन्त्रोक्त 'मैथुन' भौतिक 'मैथुन' नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता, तो फिर मोक्ष-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न साधन चलते ही क्यों, जब उत्तम सुलभ साधन प्रकृति-दत्त उपस्थित था?

इसी कारण साधक इस 'पशु-मैथुन' को छोड़कर 'दिव्य-मैथुन' की ओर उन्मुख हुआ है और अब उसका 'मैथुन' है—

**पर-शक्त्यात्म - मिथुन - संयोगानन्द - निर्भरः।**
**य आस्ते मैथुनं तत् स्यादपरे स्त्री-निषेवकाः॥**

अर्थात्—आत्मा तथा परा-शक्ति के मिथुन (जोड़े) के संयोगानन्द का आस्वादन करना ही 'मैथुन' है। अन्य तो स्त्रैण हैं। 'कर्पूर-स्तव-राज' में लिखा है—

**समन्तादापीन - स्तन-जघन - धृग्-यौवन-वती।**
**रतासक्तो नक्तं यदि जपति भक्तस्तव मनुम्॥**
**विवासास्त्वां ध्यायन् गलित-चिकुरस्तस्य वशगाः।**
**समस्ताः सिद्धौघा भुवि चिर-तरं जीवति कविः॥**

इस श्लोक को पहले भी उद्धृत किया गया है और उसका वहाँ पर 'वीर-भाव'-परक अर्थ भी किया है, परन्तु साधकों को ज्ञात होना चाहिए कि कालिका-विद्या की साधना 'वीर-भाव' तथा 'दिव्य-भाव' दोनों से होती है। 'निरुत्तर-तन्त्र' का वचन है कि—

दिव्य-भावं वीर-भावं, बिना कालीं प्रपूजयेत् ।
पूजने नरकं याति, तस्य दुःखं पदे पदे ।।

अर्थात्—यदि साधक दिव्य तथा वीर-भाव-विहीन होकर काली का पूजन करे, तो वह पद-पद पर दुःख पाता और मरने पर नरक-गामी होता है ।

अतएव यह स्पष्ट है कि 'कर्पूर-स्तव-राज' द्वयर्थक है और उसमें 'वीर' तथा 'दिव्य' दोनों भावो की साधना वर्णित है। वीर-भाव-परक अर्थ पहले किया जा चुका है। इसका दिव्य-भाव-परक अर्थ श्री विमलानन्दनाथ की विमलानन्द-दायिनी स्वरूप-व्याख्या (टीका) में इस प्रकार है—

अस्मिन् लय-योगो वर्ण्यते । हे मातः ! जननि ! भक्तः दिव्याचार-रतो योगी साधकः । यदि नक्तं निशायां प्रबुद्धः सन् इत्यर्थः (या निशा सर्व-भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी—भगवद्-गीता) समन्तादापीन-स्तन-जघन-धृग्-यौवन-वती रतासक्तः सर्व-दिग्-विदिग्-स्थितानां जीवानां उत्पादयित्र्या च नित्य-युवती-रूपया कुल-कुण्डलिनी-शक्त्या सह जीवात्मानं परात्मनि लीनं कुर्वन् सन् (योनि-मुद्रां समासाद्य स्वयं शक्ति-मयो भवेत् । स शृङ्गार-रसेनैव विहरेत् परमात्मनि । आनन्द-मयः सम्भूय ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत् ।। घेरण्ड-संहिता ।। तथा च गोरक्ष-संहितायां जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाय शिरोऽम्बुजे । शक्ति-मयः स्वयं भूत्वा पर-शिवेन सङ्गमम् । नाना-सुख विहारं च चिन्तयेत् परमं पदम् ।।) अत्र स्तन-जघन-धृगित्यनेन कुल-कुण्डलिन्या जगतां सृष्टि-स्थिति-कर्तृत्वे सूचितं (ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं इष्ट-देव-स्वरूपिणीम् । सदा षोडश-वर्षीयां पीनोन्नत-पयोधरां श्यामां सूक्ष्मां सृष्टि-रूपां सृष्टि-स्थिति-लयात्मिकाम् ।। तन्त्र-कल्प-द्रुमः।।)

विवासाः विगतं वासः मायावरणो यस्य तथा-भूतः प्रबुद्ध इत्यर्थः । गलित - चिकुर—गलितं नष्टं चिकुरत्वं चापल्यं यस्य सः, निश्चल-चित्तः सन् । त्वां परम-शिवेन सह सामरस्य-निरतां त्वां चिन्तयन् तव मन्त्र-राजं मनसा चिन्तयति, स तत्त्व-ज्ञानी भूत्वा दिव्यौघ-सिद्धौघ-मानवौघा सदृश चिर-जीवी भवतीत्यर्थः । समस्ताः सिद्धौघाः, अत्र बहु-वचन—प्रयोगेण दिव्य-सिद्ध-मानवौघानां ग्रहणं बोद्धव्यम् ।

अर्थात्---इसमें 'लय-योग' का वर्णन है। हे माता ! भक्त दिव्याचार-रत योगी साधक ब्रह्म-विद्या (ज्ञान) लक्षणा रात्रि में जागता हुआ ('गीता' में लिखा है कि जब सब प्राणियों की रात्रि है, उसमें संयमी अर्थात्---ज्ञानी, योगी या दिव्याचारी साधक जागता रहता है) यदि सर्व प्रकार से मोटे स्तनों तथा जाँघोंवाली के साथ रति-क्रीड़ा में आसक्त होकर---यानी समस्त संसार के दिग्-विदिग् में फैले हुए जीवों को पैदा करने तथा उनका पालन करनेवाली युवती-रूपिणी कुल-कुण्डलिनी के साथ जीव को परमात्मा में लय करता हुआ ('घेरण्ड-संहिता' में लिखा है कि 'योनि-मुद्रा' बाँधकर साधक स्वयं शक्ति-मय हो जाय और शृङ्गार-रस से परमात्मा के सङ्ग विहार करे। इस प्रकार आनन्द-मय होकर जीवात्मा का परमात्मा के साथ ऐक्य होता है। 'गोरक्ष-संहिता' का वचन है कि जीवात्मा-सहित 'कुण्डलिनी शक्ति' का उत्थान करके शिरोऽम्बुज में पहुँचाए, स्वयं शक्ति-मय होकर उसका परम शिव के साथ सङ्गम तथा नाना प्रकार के सुख-पूर्ण विहार का चिन्तन करे, जो परम पद है)।

यहाँ 'स्तन, जघन' शब्दों से कुल-कुण्डलिनी के जगत् के सृष्टि-स्थिति-कर्तृत्व को सूचित किया गया है। ('तन्त्र-कल्पद्रुम' में लिखा है कि इष्ट-देव-स्वरूपिणी कुण्डलिनी देवी का, जो सदा षोडश-वर्षीया, नित्य युवती, मोटे तथा ऊँचे स्तनोंवाली, काली या साँवली, सूक्ष्म सृष्टि-स्थिति-लय की कारिणी है, साधक ध्यान करे)।

'विवासा', अर्थात् विगत नष्ट हो चुका है 'वास'---परिच्छद (मायावरण) जिसका, माया - रहित होकर तथा 'गलित-चिकुरः' अर्थात् गलित नष्ट हो गया है 'चिकुरः'---चिकुरत्व (चापल्य) जिसका, वह स्थिर-चित्त होकर तेरा ध्यान करता हुआ तेरा मन्त्र जपता है, वह समस्त 'दिव्यौघ-सिद्धौघ-मानवौघ' सदृश चिरजीवी, कवि तथा तत्त्व-ज्ञानी होता है।

'दिव्य-भाव' को प्राप्त साधक योगी को भौतिक मैथुन की आवश्यकता या इच्छा तक नहीं रह जाती। ब्रह्म-जीवात्मैक्य की अवस्था को शास्त्रों ने चरम आनन्द की अवस्था बतलाया है। वह ऐसा आनन्द है, जिसमें डूबने पर बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता है, चेतना नष्ट हो जाती है।

भौतिक आनन्दों में विषयानन्द ही ऐसा है, जिसमें कुछ क्षणों के लिए मनुष्य की चेतना बिल्कुल ही नष्ट हो जाती है और वह एकदम 'अष्ट-पाश-विमुक्त' दशा में हो जाता है। इस विषय को विशेष खोलने की आवश्यकता नहीं है। जो महाशय स्त्री-संसर्ग कर चुके हों, कर रहे हों या करनेवाले हों, वे आठों पाशों में से एक-एक की स्त्री-सम्भोग के समय परीक्षा करें। उनको स्पष्ट हो जायगा कि रति-काल में अष्ट-पाश-विमुक्ति होती है या नहीं। इसीलिए महात्माओं ने ब्रह्मानन्द की मैथुनानन्द से तुलना की है।

'आगम-सार' ने 'मैथन' की परिभाषा इस प्रकार की है—

**रेफस्तु कुंकुमाभासं, कुण्ड-मध्ये व्यवस्थितः ।**
**मकारश्च विन्दु-रूपः, महा-योनौ स्थितः प्रिये ! ।।**
**अकार हंसामरुह्य, एकता च यदा भवेत् ।**
**तदा जातो महाऽऽनन्दो, ब्रह्म-ज्ञानं सु-दुर्लभम् ।।**

अर्थात्—कुंकुम के समान रङ्गवाला 'र' कार कुण्ड में स्थित है। 'रँ' बीज का स्थान वैसे तो 'मणिपूर-चक्र' बतलाया गया है, परन्तु उपर्युक्त श्लोकों में कुण्ड का तात्पर्य 'मूलाधार' में 'चिदग्नि' की स्थिति है और अग्नि का बीज 'रँ' है। देखिए, तत्त्व-शुद्धि के मन्त्र तीसरे अध्याय में—

**ततो मूलाधारे अनादि - वासनेन्धन - ज्वलिते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा कुण्डलिन्यधिष्ठितं चिदग्निं ध्यात्वा इत्यादि—**

और 'म' कार सहस्रारस्थ महा-योनि में विन्दु-रूप से स्थित है, जो 'अ' कार-रूपी 'हँस' में आरूढ़ होकर 'र' कार से संयुक्त होता है। इस संयोग से ब्रह्म-ज्ञान-रूप महाआनन्द प्राप्त होता है। 'र', 'अ', 'म' के संयोग को 'मैथुन' कहते हैं। र--आ--म = 'राम' अथवा र्--अ--म् = 'रम्'। 'राम' का अर्थ है—**रमन्ते योगिनो अस्मिन् इति 'राम'**, जिसमें योगि-जन रमण करते हैं, वह 'राम' है। 'रम्' का अर्थ है—'रमण करना'।

'ज्ञानार्णव तन्त्र' (३२वें पटल) ने इस पञ्चम-मकार का दूती-याग के प्रकरण में इस प्रकार अर्थ किया है—

**दूत्यन्तरं प्रवक्ष्यामि, येन ब्रह्म सनातनम् ।**
**प्रणवाख्यं याग-गेहं, प्रविश्य सुर - वन्दिते ! ।।**

इच्छा-ज्ञान-क्रिया-द्रव्यं, रचितं सुधया युतम् ।
अम्बया परमेशानि ! तत्व-ज्ञान-मये शिवे ! ।।
पर्यङ्के पुरुषार्थैस्तु ! पादैश्च परि-मण्डिते ।
आत्माऽन्तरात्म - परमं, ज्ञानात्माङ्क-विभूषिते ।।
तत्पदार्थस्त्वं पदार्थोऽसि पदार्थश्च सुन्दरि !
पदार्थ-त्रयमेतत् तु, ज्ञान - सूत्र - प्रकाशकम् ।।
एतत् - सूत्र - मयैः पटैर्गुम्फितेऽम्बर - मण्डिते ।
सुमनोवास - सुभगे, परां तत्र प्रपूजयेत् ।।
जाति - भेदस्तु दूतीनां, चतुर्धा वीर - वन्दिते !
हस्तिनी शङ्खिनी चैव, चित्रिणी पद्मिनी प्रिये ! ।।
चतुर्विधा हि दूत्यस्तु, सुन्दर्यश्चारु - लोचना ।
वैखरी हस्तिनी ज्ञेया, स्थूला यस्माद् वरानने !।।
ययेदं धार्यते सर्वं, ब्रह्माण्ड - परि - मण्डलम् ।
तेनेयं करिणी प्रोक्ता, मध्यमा शङ्खिनी भवेत् ।।
शङ्खिनी तु यथा भद्रे ! विशुद्धा पाप-वर्जिता ।
सर्व-देव-प्रिया सा हि, शान्ति-सौभाग्य-शोभिता ।।
तथा वनस्पति - गता, मध्यमा वाग्-वरानने !
चित्रिणी वल्लरी देवि ! महा-दोष-विनाशिनी ।।
यस्याः फलं वरारोहे ! शिव-शक्ति-मयं सदा ।
शिव-शक्ति-मयं देव ! प्राणि-मात्र जगत्-त्रयम् ।।
तेषु सर्वेषु पश्यन्तीं, जीवेषु परमाश्रया ।
पर-ब्रह्मणि संलीना, पर-वाक्य - परमेश्वरि ! ।।
तां दूतीं तत्र सम्पूज्य, समाधि - कुसुमैः शुचि ।
तदङ्गेषु कलाः पूज्या, क्रमेण सुर-वन्दिते ! ।।
पद्मिनी तु परा ज्ञेया, हंस-स्वच्छ-विकासिनी ।
हंसोदयेन पद्मं हि, त्यक्त्वा सङ्कोचमद्रिजे ! ।।
विकासयति सौभाग्यं, तथा वस्तु - विलासतः ।
परा प्रकाशमायाति, पद्मिनी त्वमतो भवेत् ।।
तस्याः देहे वरारोहे ! कला पूज्यास्तु षोडशः ।
चित्कला सत्कला ज्ञान-कला सम्वित्कला तथा ।
एताः कला वरारोहे ! तस्या देहे प्रकाशयेत् ।
तत्पदार्थं तु जानीहि, मुखमस्या वरानने ! ।।

**त्वं पदार्थोऽसि वाक्यार्थः, कुच-युग्मं क्रमेण हि ।**
**भोगस्तु परमेशानि ! नादो ब्रह्म - मयो भवेत् ।**
**नादनोदितं वरारोहे ! विश्वं योनिर्न संशयः ।।**
**तत्रैव शक्तिं सम्पूज्य, स्वात्म-लिङ्गं शिवं यजेत् ।**
**परस्पर - प्रभावेन, ब्रह्मानन्द - रसो भवेत् ।।**
**तं रसं मनसा देवि ! वहन्नाड्यागतं प्रिये !**
**अर्घ्यामृतेन संयोज्य, ततः श्रीचक्रमर्चयेत् ।।**

अर्थात्—'अब अन्य प्रकार के दूती-याग (पहले 'वीर-भाव' क्रम के दूती-याग का वर्णन किया गया था) का वर्णन करता हूँ। सनातन ब्रह्म-रूप याग-मन्दिर में, जिसको ॐ कहते हैं, प्रवेश करके साधना करे। वह याग-गृह इच्छा, ज्ञान, क्रिया नामक द्रव्यों से बनी हुई सुधा से युक्त है, तथा तत्त्व-ज्ञान-मयी मङ्गल-दायिनी जगदम्बा से युक्त है। उस याग-मन्दिर में जो पर्यङ्क है, उसके पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पाये हैं। उस पर्यङ्क की चारों बाँहें आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा तथा ज्ञानात्मा हैं।

तत्, त्वम्, असि—इन तीन पदार्थों के बटे हुए सूत से बना हुआ उस पर्यङ्क का वस्त्र (पलँग-पोश) है। यह याग-मन्दिर सुन्दर सुमनों (पुष्पों) की सुगन्ध से युक्त है (यहाँ पर पुष्प के लिए 'सुमन' शब्द का प्रयोग किया गया है—सुमन का अर्थ है, सुन्दर मन—तात्पर्य यह है कि यह सारा पूजन मानसिक होने से मानसिक पुष्प ही इस याग में प्रयुक्त होंगे। इसलिए यहाँ पर 'सुमन' शब्द का अर्थ सुन्दर मानसिक वृत्तियों के लिए लिया जाएगा। 'महा-निर्वाण तन्त्र' का वचन है कि **'चित्तं प्रकल्पयेत् पुष्पं'** अर्थात् चित्त को पुष्प मानिए। 'तारा-रहस्य' में कहा है—

**दया-ज्ञान - क्षमा - पुष्पं, पुष्पमिन्द्रिय-निग्रहम् ।**
**ज्ञान-दान-पुण्य - पुष्पं, अहिंसा - पुष्पमुत्तमम् ।।**
**आनन्द - पुष्पं दातव्यं, पुष्पं च साधकार्च्चनम् ।**
**दश-पुष्पं यः प्रदद्यात्, स गच्छेत् तारका-पदम् ।।**

अर्थात्—१ दया, २ ज्ञान, ३ क्षमा, ४ इन्द्रिय-निग्रह, ५ ज्ञान, ६ दान, ७ पुण्य, ८ अहिंसा, ९ आनन्द, १० साधकार्चन—इन दश-पुष्पों से जो पूजा करता है, वह श्री तारा-चरणों को प्राप्त होता है।

याग-मन्दिर में पराम्बा का पूजन करे। इस पूजन में चार प्रकार की दूती (नायिका) होती हैं; चारों ही सुन्दरी तथा उत्तम नेत्रों-वाली हैं—१ हस्तिनी, २ शङ्खिनी, ३ चित्रिणी, ४ पद्मिनी।

मनुष्य की चार प्रकार की वाक् (वाणी) ही ये चार प्रकार की नायिकाएँ हैं। यथा—'वैखरी-वाक्'—हस्तिनी, 'मध्यमा-वाक्'—शङ्खिनी, 'पश्यन्ती-वाक्'—चित्रिणी तथा 'परा-वाक्'—पद्मिनी नायिका (दूती) है। 'वैखरी-वाक्' हस्तिनी इसलिए कहलाती है कि वह स्थूल-रूपा है और अपने स्थूल रूप से सारे ब्रह्माण्ड-मण्डल को धारण करती है। यह 'वैखरी-वाक्' अष्ट-वर्गात्मिका वर्ण-माला (१ स्वर, २ कवर्ग, ३ चवर्ग, ४ टवर्ग, ५ तवर्ग, ६ पवर्ग, ७ अन्तःस्थ तथा ८ ऊष्म) से अष्ट-दिग्गज-सञ्चय जीव-जगत् का सृजन करती है—**देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्व-रूपाः पशवो वदन्ति**—'देव्यथर्वशीर्ष'।

'मध्यमा-वाक्' को शङ्खिनी इसलिए कहते हैं कि वह शङ्ख के समान निर्मल, विशुद्ध तथा पाप-रहित है, सर्व-देवों की प्रिया, शान्ति तथा सौभाग्य से शोभिता, वनस्पति-गता है।

'पश्यन्ती-वाक्' चित्रिणी इसलिए कहलाती है कि वह लता के समान है, महा-दोषों का नाश करनेवाली, जिसका फल सदा शिव-शक्ति-मय, परमाश्रया है, जो समस्त जीव-जगत् को शिव-शक्ति-मय देखती है।

'परा-वाक्' पद्मिनी इसलिए कही गई है कि जिस प्रकार पद्मिनी हंस (सूर्य) के स्वच्छ प्रकाश से विकसित होती है, उसी प्रकार 'परा-वाक्' हंस (पर-ब्रह्म) के प्रकाश से विकसित होती है। अर्थात् पर-मात्मा का ज्ञान प्राप्त करने से 'अनाहत-नाद' उत्पन्न होता है, जो 'हंसः सोहं' कहा जाता है।

भाग्य-वशात् साधक को उपर्युक्त चार प्रकार की दूतियों में से जो भी प्राप्त हो, उसे 'समाधि-पुष्पों' से साधक पूजे। उक्त दूती के अङ्गों में चित्कला, सत्कला इत्यादि श्रीविद्या-मन्त्र की सोलह कलाओं को पूजे। उक्त दूती का ऊर्ध्व शरीर 'तत्त्वमसि' शब्द से बना है। तत्पदार्थ उसका मुख है, 'त्वं' तथा 'असि' उसके दो स्तन हैं। 'नाद' ही उस दूती की योनि है, जिससे विश्व उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार

समाधि-कुसुमों से युक्त दूती का पूजन करके अपने लिङ्ग का पूजन करे (यहाँ पर लिङ्ग से उपस्थेन्द्रिय का तात्पर्य नहीं बल्कि मूलाधारस्थ 'स्वयम्भू लिङ्ग' से तात्पर्य है)। यथा—(शिव-संहिता)

उत्तिष्ठ द्विशतस्त्वन्मः सूक्ष्मं शोण-शिखा-युतम्।
योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयम्भू-लिङ्ग - संज्ञितम्॥
आधार - पद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दतः।
परिस्फुरद्-वादि - सान्त - चतुर्वर्ण चतुर्दलम्॥

तब उक्त दूती के साथ रमण करे। इस प्रकार रमण करने से जो 'ब्रह्मानन्द-रस' छूटे, उसको मानसिक प्रयत्न से नाड़ियों में चलाता हुआ अपने हृदयार्घ्य के प्रेम, भक्ति अथवा ज्ञान-रूपी अमृत में मिला कर 'श्री-चक्र' का पूजन करे।'

साधक! उपर्युक्त विवरण को पढ़कर स्पष्ट हो जाएगा कि इसमें कथित 'दूती-याग' केवल 'नादानुसन्धान' है। 'वैखरी', 'मध्यमा', 'पश्यन्ती' तथा 'परा'—ये चार प्रकार की जो 'वाक्' हैं, इन्हीं को नायिका अथवा पूजनार्थ भोग्य-शक्ति माना गया है और केवल 'ध्यान-योग' से इनका अनुसरण करते हुए अनाहत नाद 'सोहं हंसः' को प्राप्त करने की विधि बतलाई गई है।

इस प्रकार एक दो नहीं, हजारों उदाहरण इन 'पञ्च-मकारों' के भिन्न-भिन्न अर्थों के सम्बन्ध में तन्त्र-ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। यहाँ पर कुछ दो-एक केवल इनके सम्बन्ध में शाक्त-दृष्टि-कोण समझाने के लिए उद्धृत किए गए हैं। आम-तौर पर हिन्दू-धर्म के जितने भी मत-मतान्तर हैं—उनमें 'ब्रह्म' को निष्क्रिय, निष्कल, निर्गुण इत्यादि माना है, परन्तु जब वही ब्रह्म 'माया'-युक्त होता है, तो वह क्रिया-शील, सगुण इत्यादि होकर इस विश्व का उद्भव-स्थिति-संहार करता है, इसमें जीव-रूप से प्रविष्ट होकर इसका भोग करता है।

लेखक की राय में शाक्त-दृष्टि-कोण इससे उच्चतर है—क्योंकि जब स्वयं 'पर-ब्रह्म' कुछ भी नहीं है और सारा खेल वह तभी कर सकता है, जब वह 'माया' से युक्त हो, तो स्पष्ट हो गया कि 'ब्रह्म' कुछ नहीं, 'माया' ही सब कुछ है और जैसा 'माया' चलाएगी, वैसा ही 'ब्रह्म' को चलना पड़ेगा। इससे 'ब्रह्म' तो कुछ हुआ ही नहीं,

'माया' ही सब कुछ हो गई और 'माया-ब्रह्म-वाद' प्रसिद्ध हो गया, परन्तु 'शाक्त-तन्त्र' ने 'ब्रह्म' को सशक्त तथा अशक्त दो अवस्थाओं में माना है और 'माया' को सशक्त ब्रह्म का नौकर या सहायक, जो कुछ भी कहो, माना है। इस प्रकार शाक्त-दृष्टि-कोण ने, समझ लीजिए, 'ब्रह्म' की इज्जत बचा ली—पिता को माता के मातहत रक्खा, नौकरानी के मातहत नहीं।

'शक्ति' तथा 'ब्रह्म' के इस सम्बन्ध को महा-कवि कालिदास ने 'रघुवंश' महा-काव्य के प्रथम श्लोक में शक्ति तथा ब्रह्म को **'वागर्थाविव-संपृक्तौ'** कहकर बतलाया है। अर्थात्—शक्ति तथा शिव इस प्रकार संपृक्त हैं, जैसे वाणी और उसका अर्थ एक दूसरे से मिले हैं। तात्पर्य यह है कि निरर्थक वाणी केवल ब्रह्म की तरह निरर्थक है अथवा केवल ब्रह्म निरर्थक वाणी की ही तरह निरर्थक बल्कि उसके बराबर भी नहीं क्योंकि निरर्थक वाणी कानों से तो सुनाई देती ही है। इससे स्पष्ट हो गया कि शक्ति ही सब कुछ है।

**शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।**
**न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥**

'शक्ति का आराधन' ही आराधन है। चाहे आप किसी नाम से आराधन करें, आराधन महा-शक्ति का ही होता है। तैंतीस करोड़ देवता, उप-देवता, भूत, पिशाच, पितर—जिन-जिनको आप पूजते हैं, वे सब 'शक्ति' हैं। अगर आप इनको 'शक्ति' नहीं मानते, तो आपकी पूजा व्यर्थ है। यदि ये शक्ति नहीं है, तो देंगे ही क्या, क्योंकि शक्ति बिना तो **'न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि'** का मामला है। शक्ति बिना जब हिल-डोल भी नहीं सकते, तो देना तो दूर की बात है और आप आराधना कर रहे हैं कि कुछ मिले। यह भिन्न बात है कि राजा सुरथ और समाधि वैश्य की तरह आपकी माँगें अलग-अलग होंगी। किसी की अभ्युदय की होगी; किसी की निःश्रेयस की, परन्तु माँग होगी अवश्य!

शक्ति का आराधन शाक्त-सिद्धान्त के अनुसार किस प्रकार हो सकता है, इस बात को लेखक ने अपनी छोटी बुद्धि से समझाने का प्रयत्न किया है। शक्ति की आराधना से अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों सिद्ध होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। कहा है—

**'यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः, यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।**
**श्रीसुन्दरी - पूजन - तत्पराणाम्, भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।'**

साधक ! आप देखेंगे कि आप साधना करते-करते उस स्थान पर पहुँच गए हैं, जो भाव-लोक है। सन्त चरनदास ने एक पद में इसका बड़ा अच्छा वर्णन किया है—

**'गुरु हमरे प्रेम पियायो हो।**
**ता दिन ते पलटो भयो, कुल-गोत नसायो हो॥**
**अमल चढ़ो गगने लगो, अनहद मन छायो हो।**
**तेज-पुञ्ज की सेज पै, प्रीतम गल लायो हो॥**
**त्रेगुन तें ऊपर रहूँ, सुख-देव बसायो हो।**
**'चरनदास' दिन-रैन नहिं, तुरिया पद पायो हो॥**

साधक को गुरु महाराज ने बहुत ही तीव्र प्रेम-मदिरा पिला दी है। इस मद्य का उसे बड़े जोर का नशा चढ़ गया है। उस नशे से सब मामला पलट गया है (विपरीत रति, कुण्डल्युत्थान—जिस नाम से भी कहो); कुल-गोत्र इत्यादि (अष्ट-पाश) नष्ट हो चुके हैं; मन में अनहद 'सोऽहं' नाद छाया हुआ है। ऐसा नशा है कि मन आकाश (सहस्रार) में लग गया है—यानी कुण्डलिनी जाग्रत् होकर सहस्रार में पहुँच चुकी है और वहाँ तेज-पुञ्ज की शय्या में प्रीतम (पर-शिव के साथ) गल-बाहीं पड़ी हुई है[1]। साधक त्रिगुणातीत हो गया है? उसके लिए दिन-रात का भेद नहीं है ( **दिक्-काल-नियमो नास्ति, तिथ्यादि-नियमो न च**—इति शक्ति-सङ्गमे ) वह तुरीय-पद (मोक्ष) को प्राप्त कर चुका है।

दिव्य-भाव की चरम सीमा पर पहुँचकर साधक के सब भेद-भाव, विकल्प आदि नष्ट हो जाते हैं। उसे पूजा-पाठ, जप-तप, ध्यान इत्यादि की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वह स्वयं देव-मय हो जाता है। कबीर का वचन इस अवस्था का वर्णन करता है—

---

[1] 'सौन्दर्य-लहरी' में कहा है—

**महीं मूलाधारे कमपि मणि - पूरे हुत - वहम्।**
**स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि॥**
**मनोऽपि भ्रू-मध्ये सकलमपि भित्वा कुल-पथम्।**
**सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥**

माला जपूं न कर जपूं, मन में जपूं न राम।
राम हमारा हमें जपे, हम पाये विसराम॥
कबिरा मन निर्मल भया, जैसे गङ्गा-नीर।
हरि पाछे डोलत फिरैं, कहत कबीर-कबीर॥

साधक साध्य से भी आगे बढ़ गया है! 'कुलार्णव' ने ऐसे योगी का लक्षण इस प्रकार दिया है—

प्रणष्ट-वायु-सञ्चारः, पाषाण इव निश्चलः।
पर-जीवैक-धामज्ञो, योगी योग-विदुच्यते॥
स्वप्न-जाग्रदवस्थायां, सुप्त-वत् योऽवतिष्ठते।
निःश्वासोच्छ्वास-हीनश्च, निश्चितं मुक्त एव सः॥
निष्पन्द-करण-ग्रामः, स्वात्म-लीन मनोऽनिलः।
य आस्ते मृत्-वत् साक्षात्, जीवन्मुक्तः स उच्यते॥
न शृणोति न चाघ्राति, न स्पृशति न पश्यति।
न जानाति सुखं दुःखं, न सङ्कल्पयते मनः॥
न चापि किञ्चिज्जानाति, न च बुध्यति काष्ठ-वित्।
एवं शिवे विलीनात्मा, समाधिस्थ इहोच्यते॥
यथा गाढान्धकारस्थो, न किञ्चिद्दिह पश्यति॥
अलक्ष्यं च तथा योगी, प्रपञ्चं नैव पश्यति॥
देहाभिमाने गलिते, विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र-यत्र मनो याति, तत्र-तत्र समाधयः॥
भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परात्मनि॥

अर्थात्—"जिसका वायु-सञ्चार नष्ट हो गया हो (श्वासोच्छ्वास-क्रिया पर जिसका पूर्ण अधिकार हो गया हो); पाषाण-वत् जो निश्चल हो (जिसके शरीर पर शीत-उष्ण अथवा किसी प्रकार के घात का कोई असर न पड़ता हो, उससे पीड़ा इत्यादि का अनुभव न होता हो), पर-जीव अर्थात् परमात्मा के निवास का जिसे पूर्ण-ज्ञान हो, वह योगी है; शरीर चाहे जागता हो, चाहे सोता हो, परन्तु दोनों अवस्थाओं में जो सुप्त-वत् ही अवस्थान करता है और निःश्वासोच्छ्वास-हीन है, वह निश्चय ही मुक्त है।"

जिसका इन्द्रिय-समूह निःस्पन्द हो गया है, जिसने मन तथा वायु को अपने में लीन कर दिया है, जो बिल्कुल मुर्दे के समान स्थित है, वह जीवन्मुक्त है। जिसकी सुनने, सूँघने, स्पर्श करने, देखने की क्रिया ही खतम हो चुकी है; जिसको सुख-दुःख में फर्क की समझ नहीं है, जिसके मन में कोई सङ्कल्प नहीं है; न कुछ जानता है, न समझता है—इस प्रकार जो काष्ठ के समान जड़ हो जाता है और परम शिव में जिसकी आत्मा विलीन हो जाती है, वह 'समाधिस्थ' कहलाता है।

जिस प्रकार गाढ़ान्धकारस्थ व्यक्ति कुछ नहीं देखता, उसी प्रकार योगी के लिए यह प्रपञ्च अलक्ष्य हो जाता है और दृष्टि-गत नहीं होता। फिर तो जब उपर्युक्त प्रकार से देहाभिमान नष्ट हो जाने के कारण परमात्मा का विशेष ज्ञान हो जाता है, तब जहाँ-जहाँ योगी का मन जाता है, वहीं उसको समाधि-अवस्था प्राप्त हो जाती है। उस परमात्मा के दर्शन होने से फिर हृदय की ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है, सर्व-संशय कट जाते हैं, कर्मों का क्षय हो जाता है।"

और फिर—('कुलार्णव', ९–३८)।

**अक्रियैव परा पूजा, मौनमेव परो जपः।**
**अचिन्तैव परं ध्यानं, अनिच्छैव परं फलम्॥**

अर्थात् 'अक्रिया'–सर्व-कर्मों से निवृत्ति ही सर्वोच्च पूजा है, 'मौन' ही सर्वोत्तम जप है, कुछ भी चिन्तन न करना सर्वोच्च ध्यान है और किसी भी वस्तु की इच्छा न होना परम फल है।

'कुल-सङ्ग-शेखर'

पण्डित देवीप्रसाद घिल्डियाल

का

# परिचय

**पण्डित देवीप्रसाद घिल्डियाल** का जन्म, अलकनन्दा-मन्दाकिनी के तट पर बसे हुए धार्मिक नगर **'नन्द-प्रयाग'**, जनपद गढ़वाल, उत्तर प्रदेश में **३० नवम्बर, १९०७** को, अपनी ननिहाल के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था।

**जगदम्बा पर पूर्ण आस्था एवं भक्ति के संस्कार, आपको परिवार से विरासत में मिले। घिल्डियाल-परिवार 'शाक्त-मतावलम्बी' था। बचपन में दादा पण्डित ईश्वरीदत्त घिल्डियाल की छत्र-छाया में रहने का सौभाग्य पाया। वे पूर्ण शाक्त थे और राजकीय तहसीलदार।**

**ईश्वरीदत्त घिल्डियाल अपने समय के प्रसिद्ध 'सङ्गीताचार्य' माने जाते थे। उन्होंने 'ढोल सागर', जो श्रुति-नाद में था, उसे नागरी-लिपि में सम्पादित करवाया और उसका प्रकाशन करवाया। 'ढोल-सागर' मात्र केदार-खण्ड की भूमि के ढोल-वादकों के परिवार में प्रचलित रहा। इसमें शिव-पार्वती ने ढोल और नाद की व्याख्या के साथ ही पृथ्वी, देवता, देवियों, पर्वत, नदियों, वनस्पति, जल-चर, थल-चर और नभचर का वर्णन किया है। 'ढोल-सागर' सम्भवतः आर्यों के पूर्व की नाद-परम्परा का था।**

**इस प्रकार पण्डित देवीप्रसाद घिल्डियाल को दादा जी पण्डित ईश्वरीदत्त घिल्डियाल ने प्रारम्भिक संस्कृत एवं सङ्गीत की शिक्षा दी और आपने जगदम्बा-विषयक प्रेरणा भी उन्हीं से पाई, जिसके परिणाम-स्वरूप आप 'सितार-वादन' के मर्मज्ञ और एक उत्तम शाक्त साधक बन गए।**

देवीप्रसाद घिल्डियाल जी के पिता पं० गोपालदत्त घिल्डियाल राजकीय हाई स्कूल में अध्यापक थे। वे भी परम शाक्त और सङ्गीतज्ञ थे। वे श्रीनगर (गढ़वाल) के ग्राम डांग के निवासी थे। श्रीनगर में उनका बचपन बीता। वहीं शिक्षा पाई। विद्यार्थी-जीवन में गाँव

के बालकों को उन्होंने समाज-सेवा में निरन्तर प्रोत्साहित किया। वहाँ 'काली-सङ्घ' नामक एक संस्था भी स्थापित की। एक सुन्दर पुस्तकालय की नींव डाली, जिसके वाचनालय में प्रमुख दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ लोग पढ़ा करते थे। **'काली'** नाम से एक त्रैमासिक हस्त-लिखित पत्रिका भी उन्होंने निकाली थी, जिसमें छात्र लेखकों की कहानियाँ और कविताएँ रहती थीं। उसी समय उन्होंने जगदम्बा की एक स्तुति लिखी थी, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है—

**जै कालिका करवालिनी, जय भक्त-जन प्रति-पालिनी।**
**अभय-वरदा शिवा - श्यामा, मुण्ड - माला - धारिणी॥**
**मुक्त - केशा नग्न - वेषा, पितृ - सदन - निवासिनी।**
**काल - रूपा भैरवी, नित्य दैत्य - भक्षण - कारिणी॥**
**प्रेम - रूपा हास्य - वदना, देव - रञ्जन - कारिणी।**

सितार बजाते हुए, उन्मत्त होकर वे जगदम्बा की आराधना किया करते थे। उन्होंने किशोरावस्था में हिमालय की गोद में नन्द-प्रयाग, अल्मोड़ा और श्रीनगर में शिक्षा प्राप्त की। श्रीनगर से हाई स्कूल उत्तीर्ण कर बनारस विश्वविद्यालय में स्नातक पढ़ाई करने हेतु गए।

कौल-मार्ग की दीक्षा पं० देवीप्रसाद घिल्डियाल को अपने यशस्वी पिता से ही मिली। पिताजी के आप अनन्य भक्त थे और उन्हें गुरु मानते थे। माता श्रीमती राधारानी मन्दाकिनी-अलकनन्दा के 'सङ्गम-तीर्थ' नन्द - प्रयाग के एक सम्भ्रान्त परिवार की बेटी थीं। उनके अनुज पं० अनुक्षोयाप्रसाद बहुगुणा गांधी जी के भक्त थे। प्रयाग से वकालत की उपाधि लेकर वे राष्ट्रीय आन्दोलन में सन् १९२२ में आए तथा 'गढ़वाल के शेर' की पदवी से विभूषित हुए। तत्कालीन उच्च अधिकारी उनके दबदबे से काँपते थे।

**पं० देवीप्रसाद जी बी० ए० उत्तीर्ण कर श्रीनगर लौटे, तो कमिश्नर ने आपको पेशकार (नायब तहसीलदार) के पद पर नियुक्त किया, किन्तु आपको चाकरी नहीं भाई। मेरठ कालेज से वकालत पास कर आप पौड़ी और टिहरी में वकील का कार्य करने लगे। परिवार में बड़े होने के कारण विवाह १८ वर्ष के ही वय में हो**

गया। टिहरी में वकालत करते समय उस समय के प्रसिद्ध तान्त्रिक पं० महिधर डङ्गवाल जी के पौत्र पं० मेदिनीधर डङ्गवाल के साथ जगदम्बा की उपासना एवं तन्त्र-शास्त्र के अध्ययन में मग्न हो गए। 'चण्डी' पत्रिका के आप नियमित लेखक बन गए। 'पञ्च-मकार और भाव-त्रय' पर लेख-माला लिखी, जो बाद में पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई। उस पुस्तक की प्रामाणिकता इस तथ्य से जानी जा सकती है कि अमेरिकी स्वामी अगेहानन्द भारती ने अपनी पुस्तक "दि तान्त्रिक ट्रैडीशन" में उसी के आधार पर १६ पृष्ठों की व्याख्या लिखी है।

पं० देवीप्रसाद जी के मोक्ष-काल की घटना भी विलक्षण है। टिहरी में आप अस्वस्थ हुए। आपका पालक पुत्र वकील आपको लेकर दिल्ली को चला। हरिद्वार में दिल्ली एक्सप्रेस में शयन-शय्या पर आपको सुलाया। प्रातःकाल गाजियाबाद में आपको जगाने गया, तो देखा कि आप परम धाम की यात्रा पर जा चुके थे!

आपके ज्येष्ठ पुत्र डा० चन्द्रदत्त घिल्डियाल आई० ए० टी०, गिरिनागर, पुणे के डिफेंस-संस्थान में वैज्ञानिक अधिकारी हैं। उन्होंने गणित पर अनेक मानद पुस्तकें लिखी हैं।

पं० देवीप्रसाद जी का बचपन से ही एक अनुशासन-प्रिय और चमत्कारी व्यक्तित्व था। सप्तशती चण्डी-पाठ, देवी-देवताओं की प्रायः सभी स्तुतियाँ आपको कण्ठस्थ थीं। ग्रामीण समाज में सभी के सुख-दुःख में अपने भाइयों के साथ परिवारों में जाते और अपना योग-दान देते। प्रारम्भिक चिकित्सा हेतु आपका निजी औषधालय था। निर्धनों के प्रति सदा समर्पित रहे। वकालत में सदैव दीनों की सहा-यता करते। कानूनी तर्क-वितर्क में पारङ्गत थे और आत्म-सम्मान के प्रति सदा सतर्क। अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर ने भारतीयों के प्रति अप-शब्द कहे, तो नायब तहसीलदारी पर लात मार दी। आपकी विचार-धारा सर्वथा राष्ट्रीय रही। देश और धरती के प्रति आप सदैव सजग रहे और अपनी पीढ़ी को चेतना-शील बनाया। मेरे वे चचेरे भाई थे। घिल्डियाल-बन्धुओं में आज भी जो उदारता और कर्मठता दिखाई देती है, वह आपकी ही देन है। आपकी पुण्य-स्मृति को शतशः नमन!

४२, बलरामपुर हाउस, प्रयाग–२ –रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'

## भगवती दुर्गा एवं सप्तशती
## सम्बन्धी
## श्रेष्ठ पुस्तकें

१ **सार्थ चण्डी (श्रीदुर्गा सप्तशती)** ७५-००

'गुप्तवती', 'शान्तनवी' आदि प्रसिद्ध संस्कृत टीकाओं के आधार पर हिन्दी में पहली बार दुर्गा-सप्तशती के प्रत्येक श्लोक की विस्तृत व्याख्या

२ **विशुद्ध चण्डी (श्रीदुर्गा सप्तशती)** १०-००

वर्षों के शोध द्वारा संशोधित 'चण्डी-पाठ'

३ **सप्तशती-सूक्त-रहस्य** ३०-००

सप्तशती की पाँच महत्त्व - पूर्ण स्तुतियों की ज्ञान-दायिनी व्याख्या

४ **सप्तशती-रहस्य** ६-००

५ **श्रीदुर्गा-कल्पतरु** १५-००

भगवती दुर्गा-विषयक उपयोगी निबन्ध-संग्रह

६ **श्रीदुर्गा-स्तव-मञ्जरी** २०-००

भगवती दुर्गा के स्तोत्रों का संग्रह

७ **भगवती दुर्गा के सहस्र-नाम** १०-००

भगवती दुर्गा के १००८ नामों की व्याख्या